ग्राम्य-शिक्षा का इतिहास

लेखक—

श्रीनारायण चतुर्वेदी, एम० ए० (लन्दन)

यू० पी० एजुकेशनल सर्विस



प्रकाशक—

सरस्वती पब्लिशिङ्ग हाउस,

इलाहाबाद



१९३८

पहला संस्करण] [मूल्य

प्रकाशक—
सरस्वती पब्लिशिङ्ग हाउस,
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

मुद्रक—
परशोतम सहाय,
सरस्वती प्रिंटिङ्ग प्रेस,
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

भूमिका

जिस समय मैंने अपने प्रान्त की शिक्षा के माध्यमिक विभाग को छोड़ कर प्राइमरी विभाग को अपना कार्य क्षेत्र बनाया, उस समय मुझे अनुभव हुआ कि मैं जिस क्षेत्र में उतर रहा था, मुझे उसके इतिहास का ज्ञान प्राय बिलकुल नहीं था। इसलिए मैंने इस प्रान्त की प्राइमरी शिक्षा को अपना अध्ययन-विषय बना लिया। सुविधानुसार मैं ने अपने अध्ययन को तीन भागों में विभक्त किया। सन् १८४० से १९२६ तक के ग्राम्य-शिक्षा के इतिहास की क्रमागत तिथिवार प्रगति के वर्णन को मैंने प्रथम स्थान दिया। फिर मैंने उसी को वर्तमान समय तक, उन्नति के क्रम से अध्ययन कर दूसरा विषय बनाया और तीसरे को ग्राम्य-शिक्षा की समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से अपना सम्मति प्रकट करने का आधार बनाया। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक मेरे अध्ययन के प्रथम अंश का परिणाम है।

संयुक्त-प्रान्त की ग्राम्य शिक्षा के इतिहास की बातें अनुक्रम से देते हुए, उसके मुख्य अङ्ग को पाठकों के सामने रख देना ही इस ग्रन्थ का ध्येय है। यद्यपि सन् १९२१ से २६ के बाद की घटनाएँ इतिहास की दृष्टि से बिलकुल नवीन हैं, तो भी, चूँकि सन् १९२१ में ही अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ, उस समय तक की बातों का समावेश कर देना आवश्यक था।

पाठकों को इस पुस्तक में संयुक्त-प्रान्त की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर कुछ निश्चयात्मक विचार, उसके भविष्य की रूपरेखा या या तत् विषयक किसी प्रकार की सुधार-योजनाएँ न मिलेंगी। मेरा विचार इन सब बातों को इसी विषय पर लिखा जाने वाली अन्य दो पुस्तकों में विशद रूप में देने का है।

इस विषय के अध्ययन में मुझे डा० जे० डोवर विल्सन, एम० ए०, डी० लिट्०, सर फ्रांक डि ला फ्रोस, नाइट, सी० आई० ई०, और मिस्टर ए० ई० ट्वेन्टीमैन, एम० ए०, आदि ने अनेक सत् परामर्श दिये हैं, जिसके लिए मैं उन सज्जनों का बड़ा आभारी हूँ।

श्रीनारायण चतुर्वेदी



विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ-संख्या

प्रस्तावना

हमारे देश के गाँवों में रहने वाले जन समुदाय की शिक्षा की समस्या केवल स्थानीय ही नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सारे ब्रिटिश साम्राज्य और अन्तराष्ट्र से भी है। भारतवर्ष में सारे संसार की जनसंख्या का आठवाँ भाग मौजूद है और ब्रिटिश-साम्राज्य की जनसंख्या का दो तिहाई। फिर इस जनसंख्या में प्रायः १०० में से ९० मनुष्य गाँवों में रहने वाले हैं। यद्यपि हमारे देशवासी सुसंस्कृत हैं और हमारी सभ्यता कई हजार वर्ष की पुरानी हो गयी है, फिर भी हमारे यहाँ इस समय निरक्षरता और घोर अविद्या का साम्राज्य है—यहाँ तक कि सन् १९२१ में हमारे यहाँ की साक्षरता का अनुमान (स्त्री और पुरुष दोनों मिला कर) ८ प्रतिशत से अधिक नहीं था। यह निरक्षरता हमारे लिए लज्जाजनक ही नहीं है, बल्कि बड़ी चिन्ताजनक भी है, क्योंकि हमारे यहाँ के अपढ़, दरिद्र, मस्त और सीधे-सादे किसानों में हर प्रकार का आन्दोलन प्रचार हो सकता है और ऐसी परिस्थिति में इनकी अज्ञानता न केवल राज्य के ही लिए, बल्कि सारे संसार की शान्ति के लिए भयावह समस्या हो सकती है। रूस देश का पिछले २० वर्ष का इतिहास हमारे इस कथन का प्रमाण है।

जनसंख्या के विचार से, भारतवर्ष में हमारे प्रान्त का दूसरा नम्बर है और हमारे यहाँ की जनसंख्या में १०० पीछे ८६ मनुष्य गाँव के निवासी हैं। इस कारण से हमारे यहाँ की ग्रामीण जनता की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। और चूँकि हमारे यहाँ की जनता बहुत कम साक्षर है, इसलिए सार्वजनिक शिक्षा की समस्या वास्तव में प्रारम्भिक शिक्षा की समस्या ही है।

अँगरेजों के अधिकार होने के पूर्व ही से हमारे प्रान्त में जन-साधारण की शिक्षा की बड़ी अधोगति थी, परन्तु पिछली शताब्दी के अन्तिम ५० वर्षों से अब तक ब्रिटिश सरकार ने ग्राम्य-क्षेत्रों में शिक्षा प्रचार की बहुत कुछ चेष्टा की है। हमारे यहाँ की देशी पाठशालाएँ, यद्यपि उस समय भी, बहुत कुछ अवनत हो गयी थीं, फिर भी वे उन लोगों की शिक्षा के लिए सुविधा प्रदान करने के लिए काफी थीं, जो उस समय पढ़ने के अभिलाषी थे। इनमें से कुछ तो अवश्य ही ऊँचे दरजे की थीं, लेकिन अधिकांश छोटी छोटी ग्रामीण पाठशालाएँ ही थीं, जिनमें नित्य प्रति की साधारण परन्तु व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। इन पाठशालाओं की शिक्षा का विद्यार्थियों के आचरण पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था।

ब्रिटिश-सरकार की शुरू में यह नीति रही कि इन्हीं पाठशालाओं द्वारा नयी शिक्षा प्रदान करने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गाँव की जनता नये कानूनों को और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले अपने अधिकारों और अपने उत्तरदायित्व को समझ सके। परन्तु थोड़े ही समय बाद सरकारी पाठशालाएँ स्थापित करने की नीति जारी हो गयी, जिनमें

निःशुल्क शिक्षा दिये जाने के कारण लोग बड़ी उत्सुकता से पहुँचने लगे। ये दो तरह की पाठशालाएँ एक साथ जारी न रह सकती थीं और परिणाम यह हुआ कि देशी पाठशालाएँ अधिकाधिक संख्या में बन्द होने लगीं। इसका प्रभाव यहाँ तक फैला कि इन सरकारी पाठशालाओं की तरह ही, सरकारी सहायता से चलने वाली पाठशालाएँ भी न पनप सकीं। इसका कारण यह था कि हमारे प्रान्त में जन-साधारण के उद्योग से शिक्षा की वैसी उत्तम व्यवस्था न हो सकी, जैसी सरकार द्वारा होती थी और चूँकि पाठशालाओं के कार्य-क्रम में कार्यकुशलता का ही सब से अधिक विचार रखा जाता है, इसलिए देशी या सरकार से सहायता प्राप्त स्कूल बहुत अधिक न चल सके।

सारी शिक्षा अब सरकार की देख रेख में होती थी, परन्तु सरकार भी जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी और इसी उद्देश्य से पहले स्कूल कमेटियाँ और फिर जिला कमेटियाँ आदि बनाकर कई प्रयोग किये गये। इसके बाद जब से स्वायत्त शासन का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ, ग्राम्य शिक्षा का प्रबन्ध अधिकाधिक रूप में जनता द्वारा निर्वाचित संस्थाओं की देख रेख में होने लगा। यहाँ तक कि अब प्रारम्भिक शिक्षा का सम्पूर्ण शासन प्रबन्ध डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ में आ गया है जो अब पूर्ण रूप से जनसाधारण द्वारा निर्वाचित संस्थाएँ हैं और फिर १९२१ ई० के शासन सुधार के अनुसार तो शिक्षा की नीति और उसकी प्रगति का सारा अधिकार आनरेबिल शिक्षा मन्त्री के अधिकार में आ गया है, जो अब अपने कार्यों के लिए जनता द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी है।

अगर जरा गौर से देखा जाय तो हमारे प्रान्त के अधिकारियों ने शिक्षा को जनसाधारण में अधिकाधिक प्रचार करने की अपेक्षा उसके लक्षण-गुण पर अधिक ध्यान दिया है, यद्यपि हमारे यहाँ के पाठ्यक्रम में बराबर उन्नति होती रही है और उसे जनसाधारण की आवश्यकताओं के अनुसार उपयोगी बनाने का प्रयत्न भी किया जाता रहा है। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर देशी स्कूलों के अध्यापकों के शिक्षण, उनके वेतन और उनकी भविष्योन्नति की ओर भी शिक्षा विभाग का बराबर ध्यान रहा है। स्कूलों की इमारतें, उनका साज-सामान और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की ओर भी उन्नतिकारी चेष्टाएँ होती रही हैं और इस प्रकार अवश्य ही ग्राम्य-शिक्षा प्रचार की नींव बराबर सुदृढ़ और सुसंगठित बनायी गयी है। परन्तु इस शिक्षा प्रचार का परिणाम हमारे यहाँ की शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या को देखते हुए कुछ अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं है।

हमारी सरकार लाभकारी शिक्षा का ही प्रबन्ध कर सकती थी और यह उसने कर ही दिया, परन्तु वह लोगों को इसका उपयोग करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। हमारे प्रान्त की शिक्षा कुछ विशेष जातियों तथा कुछ विशेष वृत्तियों के लोगों तक ही परिमित थी और जब तक इन लोगों की माँग पूरी नहीं हो गयी, जितनी बार शिक्षा प्रचार के लिए अधिकाधिक व्यय की माँग पेश की गयी, शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ती गयी, परन्तु ग्राम्य शिक्षा विस्तार के लिए जो नयी योजनाएँ उपस्थित की गयीं, उन्होंने नयी माँग उत्पन्न करने के विपरीत पूर्ति ही बढ़ाने का काम किया और इसलिए इतना सब कुछ

होते हुए भी अभी तक वह दिन निकट नहीं आ पाया, जब हमारे देश में साक्षरता देशव्यापी हो जाय।

इन नये स्कूलों में जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, उसका ग्रामीण जनता का बहुत अधिक आकर्षण न होने के आर्थिक और सामाजिक कारण हैं, क्योंकि वे लोग भी जो अपने बालकों को इन स्कूलों में पढ़ाने के लिए भेजते रहे हैं, इन्हीं कारणों से बाध्य हो कर उन्हें बहुत अधिक समय तक नहीं पढ़ा सके और इस कारण इन स्कूलों की शिक्षा से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सके। इस प्रकार केवल जनता की प्रवृत्ति ही के कारण शिक्षा ग्रहण करने की लोगों की निर्बलता प्रकट हो गयी और ऐसी परिस्थिति में शिक्षा को अनिवार्य कर देने के सिवाय कोई दूसरा उपाय न रह गया।

इस प्रकार हमारे प्रान्त में ग्राम्य शिक्षा का इतिहास वास्तव में देशी भाषाओं की शिक्षा की नींव को सुदृढ़ करने के सफल प्रयास का ही लेखा कहा जा सकता है। हमारे यहाँ के प्रारम्भिक और मिडिल स्कूल, दूसरे प्रान्तों के अधिकांश ऐसे ही स्कूलों से, अपने विद्यार्थियों की संख्या को छोड़ कर, और किसी बात में कम नहीं हैं और इस संख्या वृद्धि की मन्दगति के लिए हमारे यहाँ का शिक्षा विभाग उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि किसी भी देश में अनिवार्यता के बिना विद्या का प्रचार जनसाधारण में नहीं हो सका है। हमारी सरकार सिद्धान्त रूप से अनिवार्य शिक्षा के विरोध में नहीं थी, लेकिन अधिक खर्चे और लोगों पर दबाव और जोर जुल्म के भय से इसका सूत्रपात करने से हिचकती थी। दूसरे, सरकार का यह भी विश्वास था कि अनिवार्यता का समय अभी नहीं आया।

१९२६ ई० मे अन्ततोगत्वा इस अनिवार्यता का भी श्रीगणेश हो गय
और अब जिला बोर्ड और म्युनिस्पिल बोर्ड संस्थाओं को इस बा
का अधिकार प्राप्त हो गया है कि वे जहाँ चाहें, अनिवार्य शिक्षा क
प्रचार करें।

इस प्रकार १९२६ ई० मे हमारे प्रान्त के ग्राम्य देशों मे, लोगों क
प्रवृत्ति के अनुसार ही शिक्षा प्रचार के लिए उद्योग करने का कारय
समाप्त हो कर, अनिवार्यता की नींव पर शिक्षा प्रसार का नवयुग शुरू
होता है। पिछले ७५ वर्ष मे सरकार ने शिक्षा की उन्नति के लिए जितने
प्रयत्न किये हैं, उनके कारण इसकी नींव बड़ी सुदृढ़ हो गयी है और
उसे सुसंगठित और सुचारू रूप से चलाने की परम्परा स्थायी हो गयी
है। इसलिए अब हमारे यहाँ की शिक्षा के अनिवार्य कर देने मे इस बात
का भय नहीं रहेगा कि उसके कारण हमारी शिक्षा कृत्रिम या दिखावटी
हो जाय और उसका कोई स्थायी मूल्य ही न रह।

ग्राम्य शिक्षा का इतिहास

पहला अध्याय

ग्रामवासी

(१) उसके साधन

संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध में नगर कम और गाँव अधिक हैं। सन् १९३१ की गणना के अनुसार इस प्रान्त की जन-संख्या ४,९६,१४,८३३ है। किन्तु उसमें से केवल १०.६ फी सदी व्यक्ति ही नगरों में रहते हैं, शेष ८९.४ की सदी मनुष्य अपना जीवन गाँवों में बिताते हैं। इस प्रान्त में, ६७७ व्यक्ति एक वर्गमील कृषि भूमि पर जीविका के लिए निर्भर हैं, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के बाँट में कठिनता से एक एकड़ भूमि आती है। फिर सब ज़िलों में यह औसत भी नहीं पड़ता। किसी-किसी ज़िले में तो १॥ एकड़ प्रति व्यक्ति तक का औसत बैठ जाता है। अवश्य अब खेती के लिए और भूमि का मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है।

भूमि पर जनता की आजीविका का अत्यधिक भार है। चूँकि खेती ही देश का एकमात्र प्रधान उद्यम है, इसलिए किसानों में खेत पाने के लिए बड़ी लागडाँट रहती है। फिर, भूमि अधिकतर जमींदारों के पास है, इससे किसानों की आपस की चढ़ाबढ़ी के कारण भूमि का लगान बहुत बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त खेती करने के ढङ्ग भी पुराने हैं और यह होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि खेत प्राय इतने छोटे होते हैं कि उत्तम नये ढङ्ग से खेती करना असम्भव सा है। इससे उपज भी अपेक्षाकृत कम ही होती है।

इस प्रान्त के गाँव भिन्न भिन्न आकार के हैं। एक साधारण आकार के ग्राम में औसतन १०० या इससे कुछ अधिक घर होते हैं। कहीं कहीं जमींदार गाँव में ही रहते हैं। जमींदार प्राय ऊँची जाति के होते हैं। गाँव के अधिकांश घर कच्चे होते हैं। गाँव में साधारणतया एक मन्दिर अथवा एक मसजिद होती ही है। एक "चौपाल" भी होती है, जहाँ गाँव वाले बहुधा एकत्रित हुआ करते हैं।

इन गाँवों की जनता का वर्गीकरण कई तरह से—जातिवार, धन्धेवार या धन-सञ्चय की कमी बेशी के अनुसार—किया जा सकता है। यह सम्भव है कि ऐसे वर्गीकरण करने में जो वर्ग बनते हैं वे कभी कभी एक दूसरे से मिलते-जुलते हों, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि जो जाति में बड़ा हो वह धन में भी बड़ा हो। वस्तुत धन की दृष्टि से गाँव की जनता का ठीक-

ठीक वर्गीकरण करना बड़ा कठिन कार्य है। हाँ, यदि गाँव के जमींदार और बोहरे को एक वर्ग में रख दिया जाय तो गाँव के शेष निवासी दूसरे वर्ग में रक्खे जा सकते हैं।

हिन्दुओं में तो चार जातियाँ हैं और यद्यपि इस्लाम जाति पाँति का कायल नहीं, फिर भी सैयद का जुलाहे के प्रति अपनी उच्चता का इतना विचार तो स्वभावत (और विशेषत जहाँ विवाहादि के सम्बन्ध की बात हो) बना ही रहता है जितना कि ब्राह्मण में अपनी जाति से नीच की जाति के प्रति रहता है। हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय (ठाकुर), वैश्य बनिया और शूद्र चार मुख्य जातियाँ हैं। इनके अलावा एक पाँचवीं जाति और भी है जो अछूत कहलाती है। मरम गया बीता काम करके ये अपनी जीविका चलाते हैं। प्रथम तीन जातियाँ उच्च जाति के नाम से पुकारी जाती हैं और बाकी 'नीच कौम' माना जाती हैं।

इनमें ब्राह्मण, कायस्थ और वैश्य साहित्य सेवी जातियाँ हैं, क्योंकि इनकी आजीविका बिना कुछ पढ़े लिखे चल नहीं सकती। जमींदार वर्ग तो प्राय क्षत्रिय हैं। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की पुरानी संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार प्राचीन काल में तलवार के बल पर ही भूमि का अधिकार भोगा जाता था। अत राज्य चिन्ता में पड़ कर शास्त्र चिन्ता की ओर से क्षत्रिय-लोग किनारा कशी कर गये। अब मुसलमानों में सैयद, शेख और मुगल ऊँची कौम के माने जाते हैं। इनमें से पहले दो वर्ग के लोग साहित्य सेवी हैं। लेकिन साहित्य-सेवी लोगों की संख्या गाँवों में बहुत

थोड़ी है। अत जिन गाँवों में केवल ऊँची ही जाति के लोग बसते हैं, उनको छोड़ कर गाँवों की अधिकांश जनता में साहित्य प्रेम की परम्परा का अभाव ही है।

अब यदि हम ग्रामीण जनता का वर्गीकरण उपजीविका की दृष्टि से करें तो यह जनता—कृषोपजीवी और शिल्पजीवी—दो वर्गों में बँट जाती है। कृषोपजीवी समाज परिमाण में ८० फी सदी और शिल्पजीवी समाज २० फी सदी ही होगा। गाँवों में अब तक जिस गति से कृषि कर्म और गृह शिल्प प्रणाली चल रही हैं, उसके सीखने में तथा उसके द्वारा आजीविका चलाने में भी नवीन शिक्षाक्रम के अनुसार पढ़ने लिखने या हिसाब सीखने की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं है।

प्राय ग्रामीण जनता का पञ्चमांश जमींदार वर्ग है, जो सामान्यत साधन सम्पन्न है। लेकिन विवाह की शान शौकत तथा अदालत के खर्च का इन पर इतना अधिक बोझ रहता है कि ये लोग सदा से ही कर्ज से दबे हुए हैं। सौभाग्यवश कर्ज का बोझ न हो तो भी इन खर्चों के कारण बचत तो कदाचित् ही होगी। कुछ किसान, जिन्हें भूमि पर क़ानूनी अधिकार प्राप्त हैं, जरूर खुशहाल हैं, लेकिन अधिकांश कृषोपजीवी समाज 'शिकमी' ही हैं—यानी भूमि भाड़े पर लेकर 'कास्त' करते हैं। शूद्र या पञ्चम वर्ग का इस वर्ग में आधिक्य है। गाँव के शिल्पजीवी लोग भी अपनी आय की कमी पूरी करने के अभिप्राय से थोड़ी बहुत भूमि जोतवा लेते हैं। इन वर्गों में वैश्य वर्ग तो

सबसे गया बीता, निर्धन और साथ ही सबसे अधिक परिश्रम प्रस्त समुदाय है। संख्या में भी यह सबसे बढ़ चढ़ कर है। फसल समाप्त हुई और गरमी में जहाँ कृषि कार्य बन्द हुआ कि इनको बेकारी रह जाती है। सारांश यह कि ये लोग कठिनाई से अपना पेट भर पाते हैं।

सामान्य जनता का ३० फी सदी अवशिष्ट वर्ग शिल्पजीवी, व्यापारी, समाज सेवी, स्वतन्त्र आजीविकानुयायी, और भिक्षा पर जीवन यापन करने वालों का है। इन ग्रामों में शिल्पकारी द्वारा अपनी जीविका चलाने वाले कुम्हार, ठठेरे, लुहार, सुनार, दर्जी, खटबुने, जुलाहे, पटवे, चुड़िहार, रंगरेज और माली आदि हैं। लेकिन बाजारों में मशीन के बने सामानों का चल पल होने से इनको अपना व्यवसाय जीवित रखना कठिन हो गया है। सुनार, लुहार और कहीं कहीं दर्जी को छोड़ कर अन्य सभी ग्राम्य शिल्पियों की दैनिक आय इतनी कम होती है कि उन्हें अपना निर्वाह करने के लिए थोड़ी खेती भी करनी पड़ती है। इस लिए कुछ अंश में उनके निर्वाह का भार भी भूमि पर ही पड़ता है।

ग्राम के व्यापारी वर्ग में अनाज के आढ़तिये, तेली हलवाई, तमोली, कुंजड़े, कलवार, पसारी, बजाज और गल्ले के व्यापारी हैं। अपने ग्राहक वर्ग के अधिक सम्पन्न न होने के कारण वे भी अधिक सम्पन्न दशा में नहीं हैं।

सारांश यह है कि 'रैयत' वर्ग अत्यन्त दरिद्र है। यह अपनी सन्तान से छुटपन में ही मेहनत मजदूरी कराने के लिए मजबूर

है और उनके पढ़ाने लिखाने में नाम मात्र खर्च को भी वह सहन नहीं कर सकता। पाठ्य पुस्तक आदि चीजों का खर्च तो उसकी शक्ति से परे की बात है।

(२) उसकी आवश्यकताएँ

'रैयत' वर्ग की, जो इस देश का सर्वस्व है, यह दुर्दशा है। उसका सारा जीवन नीरव और नीरस है। शताब्दियों के कष्टों ने उसे जर्जरित कर दिया है। चौहरे के तकाजों को, जमींदारों की बगारों को, और कभी-कभी पुलिस की ज्याद-तियों को वह उसी बेरमी के साथ सहन कर लेता है जिस बेबसी के साथ वह इन्फ्लुऐंजा, प्लेग, या हैजा आदि को दैवी कोप समझ कर सहता है। जमींदार को प्राय कृषकों की इन कठिनाइयों का कोई आभास नहीं होता।

भारत में कृषक वर्ग के अवकाश के समय के लिए मनोरंजक-साधन प्रस्तुत करना और उसके जीवन में सुखमय विकास की सामग्री प्रस्तुत करना एक विकट प्रश्न और आवश्यक प्रश्न है। गाँव वालों में सस्कृति की कमी हो, सो बात नहीं है परन्तु उनके बीच में अब कोई आश्रयदायिनी और प्रोत्साहनवर्धक संस्था नहीं रही है। इङ्गलैंड के गाँवों में तो गिरजाघर का पादरी एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके द्वारा गाँव भर में सस्कृति का प्रसार होता है, लेकिन भारत में ऐसा कोई साधन अब नहीं रहा है। ग्राम्य-जीवन की एक-रसता में परिवर्तन करने

के यदि कोई अवसर है तो केवल विवाह, भोज, मेला या धार्मिक यात्रा आदि हैं। परन्तु प्राय ये भी उनके ऊपर ऋण का भार लादने का कारण बनते हैं। ग्राउस साहब के विचार में प्रति वर्ष हैजा से मरने वाले १०० में ५० मनुष्य इन भोजों के कारण अपना प्राण गँवाते हैं। वास्तव में इस कुप्रथा की जड़ उनके नित्यप्रति के जीवन का रूखापन है, जिससे ऊब कर वह किसी भी अवसर को गनीमत मान कर मनोविनोद में लग जाते हैं और अपनी इस प्रवृत्ति को धार्मिक या सामाजिक बन्धनों की आड़ में छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार साधारण जन के जीवन सुधार के लिए केवल आर्थिक शक्ति-वृद्धि की ही आवश्यकता नहीं है, बल्कि कुछ ऐसी भी सामग्री उपस्थित करने की आवश्यकता है जिससे उनके जीवन में समुज्वलता भी आ जाय।

यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि साधारण जनता में विद्याभ्यास के प्रति श्रद्धा होती है, लेकिन उसकी आर्थिक अवस्था इतनी शोचनीय है कि बिना किसी अत्यन्त आवश्यक एवम् प्रभावोत्पादक कारण के वह अपने बच्चों की शिक्षा के लिए भारी से भारी आत्म-त्याग नहीं कर सकती। विद्याभ्यास में लोगों की प्रवृत्ति कराने का यात परम्परा, ज्ञान सम्पादन करने की उत्कट इच्छा, तथा आजीविका की आवश्यकता और रुकावटें व दुःखद पढ़ाई के निमित्त शिक्षा—ये ही चार कारण हो सकते हैं, जिनसे प्रेरित होकर लोग शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं।

विद्याभ्यास की परम्परागत प्रवृत्ति ब्राह्मण, कायस्थ, खत्री, और वैश्यों आदि साहित्य-सेवी जातियों में वर्तमान है। इनके अलावा ऊँची जाति के मुसलमानों में भी विद्या प्राप्त करने की रुचि है। इनके साथ केवल परम्परा का ही प्रश्न नहीं, बल्कि रोटी कमाने का भी प्रश्न रहता है। सरकारी नौकरी करके ही अपना निर्वाह करना इनकी आजीविका है। ये ही साहित्य-सेवी जातियाँ भारतीय जन समुदाय में मध्य वर्ग जातियाँ हैं। ये बसते भले ही ग्रामों में हों, परन्तु इनको आजीविका वश नगरों में ही रहना पड़ता है। राज की ओर से कोई प्रबन्ध न हो तो भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाना इनके जीवन का परम प्रयोजनीय और आवश्यक कार्य है।

सधन समाज में—जिन्हें जीविका के लिए नौकरी आदि करने की आवश्यकता नहीं—विद्याभ्यास की जो प्रवृत्ति पैदा होती है, उसका एक मात्र कारण ज्ञान सम्पादन करना हो सकता है। लेकिन यह बात तो प्रसिद्ध है कि अब तक कोई भी ऐसी प्रवृत्ति इनमें जागरित नहीं हुई। केवल ब्राह्मण या मौलवी समुदाय के कुछ लोग इस आत्मिक प्रवृत्ति से ज्ञान सम्पादन के लिए विद्याभ्यास की ओर झुकते हों तो झुकते हों। आजकल जमींदार लोग अपनी सन्तानों को इस अभिप्राय से शिक्षित बनाने का प्रयास करने लगे हैं कि अपने घराने की सम्मान-वृद्धि के लिए, डिप्टी कलक्टरी, पुलिस सुपरिंटेन्डेन्टी आदि सरकारी पदों की प्राप्ति के लिए अपनी सन्तानों को शिक्षा पढ़ाते

नहीं करा सकते। जमींदार लोग प्राय गाँवों में रहते हैं। अत इनमें शिक्षा का प्रचार होने से ग्राम्य शिक्षा क्रम में सुधार होना आवश्यम्भावी है।

लेकिन रैयत अपनी सन्तान को किस उद्देश से विद्याभ्यास कराने के लिए बैठावे? यदि उसका पुत्र पढ़ना लिखना सीख भी ले तो किस काम का? उसका जान पहचान का क्षेत्र सङ्कुचित है। उसके सगे सम्बन्धी उसी गाँव में या पास-पड़ोस में रहते हैं। वह पत्र व्यवहार का शौक नहीं रखता। फिर गाँव में भी तो कोई ऐसी बात नहीं जिसमें उसे लिखने पढ़ने की आवश्यकता पड़े? उसके लिए कोई ऐसा उपयोगी और सस्ता साहित्य भी उपलब्ध नहीं जिसे वह सरलतया प्राप्त कर सके। गाँवों में पुस्तकालय, छात्रावास अथवा रात्रि-पाठशालाएँ भी नहीं हैं। फिर पढ़े लिखे लोगों से मिलने भेंटने का अवसर या सुयोग ही उसे कहाँ और कब मिल पाता है? जो थोड़ा बहुत पढ़ लेते हैं वे गाँव छोड़ कर शहरों में चले जाते हैं और फिर उनके लिए गाँव में जाने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं।

देशी भाषाओं में निकलने वाले समाचार-पत्रों का पहले तो मूल्य ही उसके लिए इतना अधिक है कि वह उन्हें मोल नहीं ले सकता और कदाचित् ऐसा सम्भव हो तो इन पत्रों का भाषा विन्यास और उनकी शैली ऐसी है कि उसकी समझ में आना दुर्लभ है। इन पत्रों में विनोदात्मक या मनोरञ्जनात्मक साहित्य, कथानक, सामयिक चुटकुले आदि का तो अभाव सदा रहता ही है। इसलिए

विद्याभ्यास का परम्परागत प्रवृत्ति ब्राह्मण, कायस्थ, खत्री, और वैश्यों आदि साहित्य-सेवी जातियों में वर्त्तमान है। इनके अलावा ऊँची जाति के मुसलमानों में भी विद्या प्राप्त करने की रुचि है। इनके साथ केवल परम्परा का ही प्रश्न नहीं, बल्कि रोटी कमाने का भी प्रश्न रहता है। सरकारी नौकरी करके ही अपना निर्वाह करना इनकी आजीविका है। ये ही साहित्य-सेवी जातियाँ भारतीय जन समुदाय में मध्य वर्ग जातियाँ हैं। ये बसते भले ही ग्रामों में हों, परन्तु इनको आजीविका वश नगरों में ही रहना पड़ता है। राज की ओर से कोई प्रबन्ध न हो तो भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाना इनके जीवन का परम प्रयोजनीय और आवश्यक कार्य है।

सधन समाज में—जिन्हें जीविका के लिए नौकरी आदि करने की आवश्यकता नहीं—विद्याभ्यास की जो प्रवृत्ति पैदा होती है, उसका एक मात्र कारण ज्ञान सम्पादन करना हो सकता है। लेकिन यह बात तो प्रसिद्ध है कि अब तक कोई भी ऐसी प्रवृत्ति इनमें जागरित नहीं हुई। केवल ब्राह्मण या मौलवी समुदाय के कुछ लोग इस आस्तिक प्रवृत्ति से ज्ञान सम्पादन के लिए विद्याभ्यास की ओर झुकते हों तो झुकते हों। आजकल जमींदार लोग अपनी सन्तानों को इस अभिप्राय से शिक्षित बनाने का प्रयास करने लगे हैं कि अपने घराने की सम्मान-वृद्धि के लिए, डिप्टी कलक्टरी, पुलिस सुपरिटेन्डेन्टी आदि सरकारी पदों की प्राप्ति से अपनी सन्तानों को बिना पढ़ाये

नहीं करा सकते। जमींदार लोग प्राय गाँवों में रहते हैं। अत इनमें शिक्षा का प्रचार होने से ग्राम्य शिक्षा क्रम में सुधार होना आवश्यम्भावी है।

लेकिन रैयत अपनी सन्तान को किस उद्देश से विद्याभ्यास कराने के लिए बैठाये? यदि उसका पुत्र पढ़ना लिखना सीख भी ले तो किस काम का? उसका जान-पहचान का क्षेत्र सकुचित है। उसके सग सम्बन्धी उसी गाँव में या पास पड़ोस में रहते हैं। वह पत्र व्यवहार का शौक नहीं रखता। फिर गाँव में भी तो कोई ऐसी बात नहीं जिसमें उसे लिखने पढ़ने की आवश्यकता पड़े? उसके लिए कोई ऐसा उपयोगी और सस्ता साहित्य भी उपलब्ध नहीं जिसे वह सरलतया प्राप्त कर सके। गाँवों में पुस्तकालय, छात्रावास अथवा रात्रि पाठशालाएँ भी नहीं हैं। फिर पढ़े लिखे लोगों से मिलने भेटने का अवसर या सुयोग ही उसे कहाँ और कब मिल पाता है? जो थोड़ा बहुत पढ़ लेते हैं वे गाँव छोड़ कर शहरों में चले जाते हैं और फिर उनके लिए गाँव में जाने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं।

देशी भाषाओं में निकलने वाले सवाद पत्रों का पहले तो मूल्य ही उसके लिए इतना अधिक है कि वह उन्हें मोल नहीं ले सकता और कदाचित् ऐसा सम्भव हुआ तो इन पत्रों का भाषा विन्यास और इनकी शैली ऐसी है कि उसकी समझ में आना दुर्लभ है। इन पत्रों में विनोदात्मक या मनोरजनात्मक साहित्य, कथानक, सामयिक चुटकुले आदि का तो अभाव सदा रहता ही है। इसलिए

उस कदाचित् ही कभी इनको पढ़ने का काम पडता होगा। गाँव में तो दुकानों पर उनके नाम की तख्ती या अन्य कोई विज्ञापन भी नहीं होता, जिस कभी कोई निगाह उठा कर पढ़ ले। गाँव वाले रामायण और आल्हा के प्रेमी होते हैं जरूर, परन्तु इन्हें वे दूसरों से सुनकर ही अपना मनोविनोद पूरा कर लेते हैं। इन पुस्तकों को मोल लेकर रखने और पढने के लिए उनके पास पैसे कहाँ होते हैं? रही लेन देन की रसीद पुर्जो को पढने की बात, सो पहले तो ये पुर्जे ऐसी लिपि में लिखे जाते हैं कि इनके पढ़ने वाले भी कठिनता से पढ़ सकते हैं और दूसरे अगर वह पढ़ भी लें तो उसका लाभ उठाने के लिए जमींदार या मुशाजी से लड़ाई मोल लेने की ढिठाई करना उनकी शक्ति से परे की बात है।

तब यह प्रश्न भी उसके सामने आता है कि क्या यह शिक्षा-क्रम उसके व्यवसाय में उपादेय बन सकता है? विचार करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुत स्वरूप में कृषिवर्ग को किसी प्रकार की शिक्षा अपेक्षित नहीं, क्योंकि कृषि कार्य के तरीक़ों में उन्नति की बहुत कम गुञ्जाइश है। उनका कहना है कि आज कल की शिक्षा कृषकों की सन्तान में खेत में खड़े होकर काम करने में अरुचि पैदा कर देती है। कुछ कृषक तो यह भी कहते हैं कि यह शिक्षा उन्हें निर्धन बनाने का कारण बनती है। एक भाई ने मुझ से कहा कि उसने अपने लड़के को नाहक अङ्गरेजी पढ़ा कर अपना सत्यानाश किया। उसने कई बार ९वीं कक्षा में फ़ेल

हू कर अन्त म २० रुपये की नौकरी कर ली और शहर में रहने लगा है। अगर वह अपना काम करता तो उसे इससे कहीं अधिक आय होती और इतना खर्च भी न पड़ता। इसी प्रकार मुझसे एक देहाती स्कूल के एक मुदर्रिस ने कहा कि उसने जितना रुपया अपनी पढ़ाई म खर्च किया था यदि उतने रुपये इकट्ठे करके वह इक्का मोल लेकर भाडे पर हाँकता तो आर्थिक दृष्टि से वह इस मुदर्रिसी की अपेक्षा कहीं अच्छा रहता। अत यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि ग्राम्य जन क सामने ऐसी कोई आवश्यकता नहीं जिसके कारण वह अपना धन और समय लगा कर शिक्षा से किसी भारी लाभ की आशा कर सके।

कुछ लोगों का विचार है कि शासन सुधार के युग का प्रारम्भ होने पर कृषकों को वोट देने के जो वृहत अधिकार मिले हैं उससे उनमें विद्याभ्यास की प्रवृत्ति बढ़गी। पर भारतीय जनता चुनाव क परचों को पढ कर किसे वोट देना चाहिए, यह निश्चय नहीं कर पाती। दूसरे चुनाव क परचे गाँवों तक शायद ही पहुँच पाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे वोट देने के अधिकार की वृद्धि क कारण विद्याभ्यास के प्रचार में अधिक सहायता नहीं मिल सकती।

यह तो ग्राम्य जन की दृष्टि स विचार करन पर वस्तुस्थिति का दर्शन हुआ, जिससे प्रकट है कि यदि उसकी इच्छा पर छोड दिया जाय, तो उसके पास कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे वह अपने बच्चे की पढ़ाई के लिए समय और धन का मोह छोड दे।

लेकिन यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वह विद्याभ्यास के विपक्ष में भी कदापि नहीं है। जब तक उसका बालक चार पैसे कमाने लायक नहीं बनता तब तक, यदि स्कूल पास में है और पढ़ाई के खर्च में उसको गाँठ के पैसे अधिक खर्च नहीं होते, तो वह अपने बच्चे को प्रसन्नता से स्कूल में बैठा सकता है। लेकिन जहाँ वह बच्चा काम में हाथ बँटाने लायक हुआ कि उसे स्कूल से विदाई लेनी ही पड़ेगी।

दूसरा अध्याय

शिक्षा का प्राचीन क्रम

भारत के जो प्रदेश अब आगरे व अवध के संयुक्तप्रान्त के नाम से पुकारे जाते हैं वे इतिहास में पहले हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध थे। शताब्दियों तक ये प्रान्त धन और सुख की गोद में फूले फले और इसी सुख समृद्धि के लोभ से प्रेरित होकर पश्चिमोत्तर के आक्रमणकारियों द्वारा ये प्रान्त इन चीजों से वंचित भी किये गये। १६वीं शताब्दी में मुगलों ने यहाँ अपनी सत्ता अच्छी तरह जमा ली थी। लेकिन उनका पतन होने के साथ ही ये प्रान्त शक्तिलोलुप प्रतिस्पर्धियों की मुठभेड़ का अखाड़ा बन गये। सन् १७०७ में औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद से लगा कर, बङ्गाल के अहाते में मिलाने के समय तक, ये प्रान्त अशान्ति और विप्लव के घर बने रहे। इस विपज्जनक समय में जीवन रक्षा में व्यग्र रहने के कारण, इन प्रान्तों के निवासी शिक्षा दीक्षा की ओर आवश्यक ध्यान न दे पाये। जब अङ्गरेज लोग इस प्रान्त में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि इन प्रान्तों के निवासी शिक्षा विहीन हैं। परन्तु उस समय भी, प्राचीन

परिपाटी की स्मारक, एक प्रकार की शिक्षा प्रदान की परम्परा यहाँ फिर भी मौजूद थी। अतः अङ्गरेजी शिक्षा के प्रादुर्भाव काल से पहले की इसी शिक्षा प्रदान शैली का वर्णन हम करेंगे।

डाक्टर एफ० डब्लू० टॉमस ने इन प्राचीन शैली की पाठशालाओं को हिन्दू प्रारम्भिक और हिन्दू शास्त्रीय पाठशालाएँ, मुस्लिम प्रारम्भिक स्कूल तथा मुस्लिम मकतब इन चार भागों में विभक्त किया है। हिन्दुओं में छोटे बड़े दोनों प्रकार के विद्यालय पाठशाला के नाम से पुकारे जाते थे, वैसे ही मुसलमान अपने छोटे-बड़े विद्यालयों को मकतब के नाम से पुकारते थे। लेकिन वस्तुतः ये दोनों नाम केवल ऊँचे दर्जे की पढ़ाई की संस्थाओं को दिये गये थे। गाड साहब ने अपनी प्रथम रिपोर्ट में प्राचीन पद्धति पर शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं को १० विभागों में विभक्त किया है। उन्होंने ये विभाग उनमें सिखायी जाने वाली भाषाओं की विभिन्नता के अनुसार निर्धारित किये थे। लेकिन अपने उद्देशानुसार हम यहाँ पर केवल दो, यानी प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने वाले तथा उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालय के विभागों को मान लेते हैं और उनके साथ हिन्दू और मुस्लिम इस प्रकार दो उपविभाग मानने से हमारा काम चल जायगा।

सब से पहली बात जो हम यहाँ बतला देना चाहते हैं वह यह है कि आज दिन जिस अर्थ में 'स्कूल' शब्द व्यवहार में आता है एक शताब्दी पहले उसके यह अर्थ न थे। उन दिनों

एक शिक्षक के निरीक्षण में किसी एक स्थान पर एकत्रित होकर कम से कम दो चार या अधिक से अधिक पन्द्रह बीस लड़के जहाँ पढ़ते थे, उस स्थान को पाठशाला या स्कूल कहते थे। ऐसे स्कूलों में न तो कोई कक्षायें या श्रेणियाँ थीं और न चटाई के सिवाय किसी प्रकार का सामान। इन स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों के पास लकड़ी के तख्ते की बनी हुई 'पट्टी' या 'तख्ती' होती थी। इसको हरी घास या पत्ता से मलकर हरा रंग दिया जाता था और गोटे से रगड़ कर चिकना किया जाता था। पाव हाथ के सर्तों की किसी झाड़ी में से काटकर सरकंडे की क़लम बनाया जाती थी और मट्टी की छोटा सी कुलिया में खड़िया मट्टी घोलकर दवात तैयार हो जाती थी। पुस्तकें पढ़ने का सुखोपभोग उन्हें कहाँ नसीब था!

१८७१ ई० में लन्दन में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई थी। इसमें एकत्रित शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें, अन्य सामग्री तथा उपकरणों के विषय में डाक्टर स्मिथ ने एक रिपोर्ट पेश की थी। उनमें भारतवर्ष की एक ग्रामीण चटसाल (पाठशाला) का वर्णन इस भाँति किया गया है। 'भिन्न भिन्न देशों में प्रचलित शिक्षा पद्धतियों पर प्रकाश डालने के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया गया है। इसके युरोपियन शिक्षा विभाग में जहाँ लम्बे चौड़े आडम्बरयुक्त बहुमूल्य साज सामान का प्रदर्शन है, वहाँ दक्षिणी केन्सिंगटन के अजायबघर में भारतवर्ष की प्राचीन पद्धति के अनुसार शिक्षा प्रदान करने वाली पाठशाला के

माडल में हमें क्या दिखायी देता है? ताड़ के पत्तों से स्वयम् पढ़नेवाले बालकों द्वारा बनायी हुई हलकी सी चटाई, जिसे उठाने और रखने में कोई कठिनाई नहीं होती और जिसका मूल्य भी एक आना मात्र है! इस चटाई के अनुरूप ही उनके पढ़ने का स्थान है। इसे बड़े आदर सूचक शब्दों में हम 'विद्यालय का भवन' कह सकते हैं। यह भी इसी सादगी का नमूना था। कहीं कहीं अध्यापक का कच्चा झोंपड़ा ही स्कूल के काम आता था। कहीं गाँव के मुखिया के घर के दालान में स्कूल लगता था और कहीं किसी महाजन के द्वार पर खुले चबूतरे पर ही पठन पाठन होता था। अगर कहीं इस काम के लिए मन्दिर, मसजिद या थाना आदि सार्वजनिक स्थान मिल गया, तब तो विद्यार्थियों के भाग्य ही उदय हुए जानना चाहिए। अगर इन सब में से किसी बात की सुविधा न हुई तो फिर किसी सायेदार पेड़ के नीचे ही चटसाल लगती थी।"

सन १८६८ ई० मे एस० लाँग साहब ने ऐडम साहब की रिपोर्ट का सम्पादन किया। 'मुसलमानी शासन के आरम्भ होने के पूर्व बङ्गाल म देशी शिक्षा' इस रिपोर्ट का विषय था। इसके अनुसार गाँवों मे हिन्दुओं का प्राचीन ग्राम-सघ (Old Municipal System) प्रचलित था। इसके अनुसार हर गाँव म एक मुखिया, पुरोहित, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, नाई, धोबी, भाट, वैद्य और अध्यापक, जिसे 'गुरु महाशय' कहते थे, रहता था। यह ग्राम्य सङ्गठन अनेक राजनीतिक आन्दोलनो और

विप्लवों के वेग को सहन करता हुआ सैकड़ों वरसों से ज्यों का त्यों बना रहा। मैटकाफ साहब के शब्दों में "यद्यपि इस देश में हिन्दू पठान, मुगल, मराठे, सिक्ख और अङ्गरेज वारी-वारी से अधिपति बनते गये परन्तु यहाँ के ग्राम्य समुदाय का स्वरूप पूर्ववत् ही बना रहा"।

फिर भी यह कहना सत्य ही है कि मुसलमान शासकों की उदासीनता का प्रभाव इस अपरिवर्तनशील ग्राम्य जनता की संस्कृति के प्रादुर्भाव पर बिना पड़े न रह सका। इस दीर्घ-कालीन उदासीनता के बाद, बड़ा विलक्षण समय उपस्थित हुआ। इसके कारण प्रजा के जान माल तक पर बन आया। ऐसी कठिन परिस्थिति में जब ग्राम समुदाय को लाचार हो अपना ध्यान केवल उन्हीं बातों की रक्षा करने में परिमित करना पड़ा, जो तत्कालीन समाज का स्वरूप स्थिर रखने के लिए परमा-वश्यक थीं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे महान संकट के समय में शिक्षा की अवहेलना हुई। डाक्टर लीटर ने पञ्जाब की देशी शिक्षा पद्धति का वर्णन करते हुए अपने लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कम से कम पञ्जाब में तो ये प्राचीन शैली की पाठशालाएँ वस्तुतः अपने प्राचीन स्वरूप की कङ्काल मात्र रह गयीं थीं।

मुगल साम्राज्य के अधःपतन के बाद गाँव के कार्य कर्त्ताओं में 'गुरु महाशय' की तो सब से अधिक गयी बीती अवस्था थी। इस समय के अध्यापक या तो वयोवृद्ध कार्य क्षमताहीन

कायस्थ होते थे या कोई बेकारी के मारे घर बैठे हुए ब्राह्मण, जिनके लिए अपनी ऊँची जाति के गर्व के कारण और कोइ काम धन्धा करना असम्भव होता था। इन अध्यापकों का वेतन भी बहुत कम होता था। जब गाँववालों के यहाँ फसल कट जाने पर नाज खलिहान में आ जाता था तो प्रचलित प्रथा के अनुसार इन अध्यापक जी को भी हर घर से एक अढैया (२॥ सेर) से लेकर दो पसेरी (१० सेर) तक नाज मिल जाता था। हिन्दुओं के लड़के हर एकादशी को एक धेले से लेकर दो पैसे तक अध्यापक की भेंट करते थे। इसके अतिरिक्त हर तिथि त्यौहार के अवसर पर मिठाइ, फल, कपड़-लत्ते, रुपये पैसे आदि की भेंट पूजा भी बालकों से मिल जाती थी। पाठशाला में प्रवेश, या विवाह आदि संस्कार के अवसर पर भी बालकों की ओर से अध्यापक को भेंट विदायी या अन्य पुरस्कार मिलते थे। अगर गुरूजी ब्राह्मण हुए तो तिथि-त्यौहार पर उनको विद्यार्थियों के यहाँ से 'सीधा' भी मिल जाता था।

कुछ स्कूलों में यह भेंट नियमित रूप से भी मिलती थी। प्रत्येक पट्टी' (पाठ) समाप्त करने और उसे अपने माता पिता को कंठस्थ कर सुना देने पर अध्यापक को दो आना प्रति पट्टी (पाठ) के हिसाब से पारश्रमिक मिलता था। इतनी भेंट पूजा और पारश्रमिक की आयोजना होने पर भी हमारे प्रान्त में सन् १८५० ई० में अध्यापक की आय का मासिक औसत ४ रुपये मात्र था।

गाँवों म किसी किसी के यहाँ अपने घर पर पढ़ाने के लिए निज के अध्यापक भी रहते थे। लोग अपने बालकों को पढ़ाने के लिए अध्यापक को नौकर रख लेते थे। ऐसा करना उनके सम्मान और उच्च पद का द्योतक था। आज कल भी हमारे प्रान्त म 'घर पर पढ़ाने के लिए अध्यापक' रखने की जो कुप्रथा प्रचलित है उसका कारण केवल आधुनिक शिक्षा प्रणाली का दोष ही नहीं है वरन् इस प्राचीन परम्परा की प्रेरणा भी है।

मुसलमान अमीरों के यहाँ घर पर पढ़ानेवाले अध्यापक प्राय इसलिए रहते थे कि वे उनके यहाँ भोजन भी कर सकते थे। ऐसे अध्यापक अपने गाँववाले सहयोगी की अपेक्षा कहीं अच्छी अवस्था में रहते थे। वेतन और भोजन के अतिरिक्त उनको जाड़ा म गरम कपड़े भी मिल जाते थे और वे अपने मालिक के पास पड़ोस में रहने वाले लड़कों को पढ़ाकर उनसे नकद रुपये भी प्राप्त करते थे। कुछ अध्यापक ऐसे भी होते थे जो बिना शुल्क लिये अपने घर पर ही बालकों को पढ़ाया करते थे परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा की चटसालों और विद्यालयों में ऐसे अध्यापकों की संख्या प्राय नाम मात्र ही थी।

इस प्रकार जिस पेशे में (उस जमाने मे भी) घसियारे से भी कम वेतन मिलता था, भला यह कब सम्भव हो सकता था कि उसमे ज्ञान के लिए सुशिक्षित लोग आकर्षित हों! फिर गाव वाले तो शिक्षा के नाम से कोरे ही थे। इसलिए जो भी चार अक्षर पढ़ा हुआ उन पर प्रभाव जमाना चाहता वह सहज

ही उस के स्थान में आ जाते थे। इस पर भी गाँव में उन लोगों को छोड़कर जो स्वयम् पंडित थे साधारण लोगों में न तो स्पृहा थी और न वे ऐसे अपूर्व विद्यानुरागी ही थे कि अपने बालकों को पंडित बनाना उनका ध्येय हो। जो लोग अपने बालकों को पंडित या मौलवी बनाना चाहते थे वे उन्हें किसी संस्कृत पाठशाला या फारसी के मकतब में पढ़ने के लिए भेज देते थे अथवा घर पर ही अध्यापक रख कर उनके पढ़ाने की व्यवस्था करते थे। साधारणतः मध्यम श्रेणी के ऐसे ग्राम निवासी जिनके पास थोड़ा बहुत धन होता था अपने बालकों को अक्षर ज्ञान कराने के लिए पाठशाला में पढ़ाते थे।

इन पाठशालाओं में यह साधारण शिक्षा भी बिना किसी उपकरण के दी जाती थी। और यह कुछ कम कौतूहल की बात नहीं है कि ऐसी अवस्था में भी स्वयम् कुछ अधिक शिक्षित न होते हुए भी ये अध्यापक अपना काम खूब चला लेते थे।

सन् १८५२ ई० में एच० एस० रीड साहब ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें 'आगरे में देशी शिक्षा और वर्नाक्युलर स्कूलों' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'हिन्दी के अध्यापक पढ़ने में प्रायः असमर्थ होते थे। वे किसी किताब का उपयोग न करते थे, परन्तु गिन्ती और पहाड़े जबानी रटा दिया करते थे। बहुत से ऐसे शिक्षक जो कुछ टूटा-फूटा पढ़ लेते थे एक एक अक्षर को जोड़ कर पढ़ पाते थे। कोई विरला कायस्थ शिक्षक नागरी पढ़ पाता था और बहुत से ब्राह्मण अध्यापकों की भी यही दशा थी।

जिस किसी ने इन ग्रामीण पाठशालाओं के विद्यार्थियों की परीक्षा ली होगी उसे यह देखकर अवश्य आश्चर्य हुआ होगा कि इनमें पढ़ने वाले बालकों को उनके शिक्षक कितना कम पढ़ाते थे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात भी याद रखने योग्य है कि शिक्षकों को जैसा वेतन दिया जाता था उसके विचार से इससे अधिक अच्छी शिक्षा प्राप्त होना असम्भव था। किसी संस्था की सफलता या विफलता के सम्बन्ध में निर्णय करते समय उसके शिक्षा विस्तार पर ही अधिक ध्यान न देकर यह भी देखना आवश्यक है कि उसका नैतिक प्रभाव और अनुशासन कितना लाभदायक था। इस अन्तिम बात का विचार हम बाद में करेंगे।

अब हम गावों की इन प्रारम्भिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम पर विचार करेंगे। बहुत सी ऐसी पाठशालाओं में हिन्दी, महाजनी या कैथी की वर्णमाला सिखायी जाती थी। महाजनी का व्यवहार साहूकार महाजनों में पहले की भांति अब भी होता है और इसी कारण इस लिपि का नाम भी महाजनी पड़ गया है। कैथी कायस्थों के नाम से प्रचलित हुई। कायस्थ हमेशा से लिखने-पढ़ने के काम करते रहे हैं। अतएव इन्हें सरलता से शीघ्र लिखी जाने वाली कैथी लिपि का प्रयोग करना पड़ा। इन स्कूलों में लिखने की भांति पढ़ने में भी बड़ी विभिन्नता थी। नागरी या हिन्दी स्कूलों में साधारण विषयों की शिक्षा होती थी, किन्तु महाजनी और कैथी स्कूलों में व्यापार और खेती-बारी के

हिसाब किताब की शिक्षा विशेष प्रकार से दी जाती थी। इन स्कूलों में पढ़ने लिखने के साथ मौखिक गणित और साधारण हिसाब भी सिखाया जाता था। इन सब विषयों की पढ़ाई कुछ तो शिक्षक की योग्यता पर, कुछ विद्यार्थियों के मातापिताओं के झुकाव पर और कुछ उस काल पर निर्भर करती थी जिस समय के लिए विद्यार्थी पाठशाला में रह सकते थे।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि गाँव के विद्यार्थी का पाठशाला में पढ़ने के लिए रहना सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर था। इस प्रकार इन पाठशालाओं को अपने चारों ओर की परिस्थिति के अनुसार अपना कार्यक्रम रखना पड़ता था और जिस प्रकार पानी की धार अपने उद्गमस्थान की ऊँचाई से अधिक ऊँची नहीं चढ़ सकती, उसी प्रकार ये पाठशालाएँ उतनी ही शिक्षा देती थीं जितनी उस जाति के लोगों की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होती थी। यह बात हम पहले ही बतला चुके हैं कि जो लोग अपने बालकों को उच्च शिक्षा देना चाहते थे व उन्हें बड़ी पाठशालाओं में भेजते थे और इसलिए घटसालों में केवल उन्हीं लोगों के बालक पढ़ते थे जिनको थोड़ी सी कामचलाऊ शिक्षा दिलानी होती थी। इससे प्रकट है कि घटसालों में लड़कों को उतनी ही शिक्षा दी जाती थी जिससे उन्हें साधारण बातों के समझने और चिट्ठी इत्यादि लिखने पढ़ने का ज्ञान हो जाता था। इन घटसालों में उनको इतना हिसाब भी सिखा दिया जाता था जो गाँव की दूरस्थ और एकान्तवासी

प्रजा की साधारण आवश्यकताओं के लिए काफी होता था। परन्तु जब महाजनों या कायस्थों के लड़कों को किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करना होता था तो इन स्कूलों में ही जितनी शिक्षा हो सकती थी दे दी जाती थी और इसके अलावा किसी दुकान या कारखाने में कुछ समय तक काम सीख कर इनका व्यावहारिक ज्ञान परिपूर्ण करा दिया जाता था।

बालकों को पढ़ने से पहले लिखना सिखाया जाता था। सब से पहले उन्हें स्वरों का ज्ञान कराने के लिए लिखने के साथ प्रत्येक स्वर का उच्चारण कराया जाता था। इसी प्रकार व्यञ्जन सिखाये जाते थे और उनके उच्चारण की विधि के अनुसार उनका वर्गीकरण करके पढ़ाया जाता था। जैसे—प फ ब भ म—इति ओष्ठम्। परन्तु हिन्दी की चटसालों में इन्हें बारहखड़ी की कविता याद कराके पढ़ाया जाता था। ये बारह-खड़ी कई भाँति की होती थी। किसी किसी में महापुरुषों की कहानियाँ होती थीं तो किसी में नीति की बातें सिखायी जाती थीं। सुदामा बारहखड़ी में सुदामा की कथा का वर्णन है और इस कथा का हर दोहा वर्णमाला के अक्षरों से क्रमानुसार आरम्भ होता है। इसी प्रकार नीति के दोहों की बारहखड़ी के आरम्भ में वर्णमाला के अक्षर होते थे जैसे—

'दद्दा दोष न दीजै काहू, दोष कर्म अपने ही'।

'जज्जा जपै सोई गति पावै'।

'सस्सा—साधु संग पावै जन कोई'।

हिन्दुओं में इस प्रकार अनेकों बारहखड़ियाँ थीं और बालकों को इन्हें रट कर याद करने में खूब आनन्द आता था।

जब बालक वर्णमाला सीख लेते थे तब उनकी परीक्षा ली जाती थी। शिक्षक उनकी पट्टी पर कोई अक्षर लिख कर बालक से उसकी पहचान कराता था या किसी कागज के टुकड़े में इतना बड़ा छेद करके, जिसमें होकर केवल एक ही अक्षर दिखायी दे, किताब के ऊपर नीचे घुमा कर बालक से छेद के भीतर से दिखायी देने वाले अक्षर को पहचान कराता था। कभी कभी शिक्षक परीक्षा लेने में बड़ी कड़ाई दर्शाते थे। उनकी समझ में कदाचित् यह बात न आती थी कि एक ही अक्षर को बार बार देखते रहने से वह बालकों के ध्यान में जम जाता था। परीक्षा में जो बालक अपने शिक्षक को सन्तुष्ट कर देता था उसे फिर बारहखड़ी सिखायी जाती थी।

यह बारहखड़ी शब्द द्वादशाक्षरी संस्कृत शब्द का ठेठ हिन्दी है। अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः—देवनागरी वर्णमाला में यह बारह स्वर होते हैं और किसी एक व्यञ्जन के साथ इनका योग हो जाने का नाम बारहखड़ी है। जैसे—क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः।

अन्य ३२ व्यञ्जनों के साथ इसी प्रकार की बारहखड़ी सीख लेने पर हिन्दी भाषा में किसी शब्द का उच्चारण सुनकर उसको लिख लेना बालक के लिए बहुत सरल हो जाता है। यह बात नागरी अक्षरों की स्वरध्वनि की शुद्धता के कारण

इतनी सुलभ है। इस प्रकार यद्यपि बारहखड़ी सीखने में एक महीने का समय लग जाता था, परन्तु इसका प्रभाव बड़ा लाभ-प्रद होता था। क्योंकि अब बालक बिना किसी विशेष कठिनाई के साधारण चीजों के नाम लिख पढ़ सकता था।

इसके पश्चात् संयुक्ताक्षर सीखने की बारी आती थी। परन्तु इनके सिखाने की कोई विशेष प्रामाणिक विधि नहीं थी। संयुक्त अक्षर सिखाने में शिक्षक प्रायः हर बालक की पट्टी पर 'सिद्धों की पट्टी' लिख दिया करता था और बालकों को उसकी नकल करना पड़ती थी।

इस स्थान पर यह बतला देना अधिक उचित होगा कि इस पट्टी का नाम संस्कृत भाषा के 'कलाप व्याकरण' के प्रारम्भिक शब्द के पहले अक्षर से लिया गया था। इस व्याकरण में हर प्रकार के संयुक्त अक्षरों से बने हुए शब्द मिलते हैं। इस पट्टी के पढ़ाने का एक कारण यह भी था कि इस समय तक छोटे से छोटे गाँव में भी संस्कृत व्याकरण पढ़ाने की परम्परा जारी थी। क्योंकि अब भी लोगों का यह विचार था कि संस्कृत के व्याकरण के ज्ञान के बिना कोई शिक्षा हो ही नहीं सकती। इस 'सिद्धों की पट्टी' में ४५ पृष्ठ थे, और इसके लिखने का अभ्यास कर लेने से बालकों को संयुक्ताक्षरों के कठिन शब्द लिखने का अच्छा ज्ञान हो जाता था। यद्यपि यह बात सत्य है कि इस अवस्था में उनको इन शब्दों के अर्थ का कुछ भी ज्ञान न होता था। इसी समय बालकों से देवताओं, मनुष्यों, नगरों,

नदियों, और पहाड़ों इत्यादि के नाम लिखवाने का अभ्यास कराया जाता था। हर लड़का अपना, अपने पिता का तथा अपने इष्ट मित्रों और कुटुम्बियों का नाम पट्टी पर नित्य लिखता था।

इसी के साथ साथ दिन का नाम, महीने का नाम ऋतु का नाम तथा अपने गाँव या नगर का नाम भी उसे नित्य लिखना पड़ता था। इस प्रकार के अभ्यास में बालकों का खूब चित्त लगता था। यह अभ्यास समाप्त हो जाने पर उसे विभिन्न लोगों के नाम चिट्ठी लिखने का अभ्यास कराया जाता था।

इतनी शिक्षा समाप्त कर लेने पर बहुधा अधिकांश लड़के पाठशाला छोड़ देते थे। परन्तु जो लड़के इसके बाद भी शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे वे प्रायः अपने घर से रामायण की पोथी लाकर पढ़ने लगते थे। छपी हुई पुस्तकों के प्रचार होने के पूर्व ऐसी पोथियाँ बहुत कम पढ़ने को मिलती थीं, क्योंकि भारतवर्ष में १८ वीं शताब्दी के अन्त और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में छापखाने का प्रादुर्भाव हो पाया था।

साधारण पाठशालाओं की शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी था कि उनमें पढ़ने वाले बालकों को अङ्कगणित का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाय। इस विचार से अङ्कगणित की शिक्षा यथा सम्भव व्यावहारिक रूप में दी जाती थी। आरम्भ में मौखिक अङ्कगणित पर अधिक जोर दिया जाता था और सब गुर जबानी याद कराये जाते थे। इन पाठशालाओं में हिसाब

सिखाने की भी यहां शिक्षण विधि प्रचलित थी जिसका भाषा पढ़ाने में उपयोग किया जाता था। लड़कों को पहले पहल गिनती सिखाया जाता थी और सैकड़े के दस दस भाग करके एक एक में एक भाग सिखाया जाता था। पाठशाला की छुट्टी हो जाने पर यह गिनती सब लड़के एक लड़के के पीछे जोर जोर से चिल्ला कर बोलते थे और रट कर याद कर लेते थे। परन्तु जब गिनती लिखाने का श्रीगणेश होता था उस समय गुरू जी बालक का हाथ अपने हाथ में पकड़ कर पट्टी पर एक अङ्क के नीचे दूसरा अङ्क इस तरह लिखाते थे जैसे चीनी वर्णमाला लिखी जाती है।

बालक अङ्क को लिखने के साथ बोलता भी जाता था। इसके बाद उससे पूरा की पट्टी लिखायी जाती थी। सारी पट्टी भर लिखने पर या जब तक वह पक्का न हो लेता था तब तक उसे बराबर इसे लिखना पड़ता था। फिर उसकी परीक्षा होती था और उससे कोई भी अङ्क जैसे—९ ६, ८, ३ इत्यादि तुरन्त लिखने के लिए कहा जाता था। इसके बाद ग्यारह, इक्कीस, इकतीस इत्यादि की पट्टी लिखा कर १०० तक गिनना पूरा की जाती थी। किसी-किसी पाठशाला में तो गिनती पढ़ते समय उलटी गिनती भी सुनायी जाती थी। मैं स्वयम् सारी उलटी गिनती १०० से १ तक गिन लेता था और वह भी एक मिनिट में। मैंने सम विषम, अङ्क एक साथ यन्त्र के समान बोलने का भी अभ्यास कर लिया था।

गिनती आ जाने के बाद पहाड़े सिखाये जाते थे। पाठशाला में बैठने के पहले ही दिन से छुट्टी होने के साथ ही एक कतार में खड़े हो कर स्वर के साथ हर एक बालक को एक बोली पर ये पहाड़े दुहराने पड़ते थे। इस प्रकार हिसाब सीखना प्रारम्भ करने से बहुत पहले ही ये पहाड़े बालकों के मस्तिष्क में जमा दिये जाते थे। बहुतेरी पाठशालाओं में एक से ४० तक के पहाड़े याद कराये जाते थे, परन्तु कुछ पाठशालाएं तो ऐसी थीं जहाँ सब पहाड़े १०० तक याद कराये जाते थे। किसी किसी पाठशाला में २ २५ तक के पहाड़े सिखा कर ही पहाड़ा की पट्टी समाप्त कर दी जाती थी। पहाड़ा याद हो जाने पर कड़ी परीक्षा ली जाती थी और हर दस पहाड़े के बाद दूसरी दहाई का पहाड़ा याद करने को दिया जाता था। पहाड़ों की परीक्षा जबानी होती थी। गुरु जी पूँछते थे १२ पचे ? या कै सत्ते ९१ ? इत्यादि।

मेरे गुरु जी का तो कहना था कि पहाड़े इतने पक्के याद होने चाहिए कि सोते में भी यदि पहाड़ा पूछा जाय तो उत्तर ठीक ही मिले और तुरन्त मिले। इस प्रकार पूरे अंक के पहाड़े याद कर लेने पर भिन्न के पहाड़े भी सिखाये जाते थे। पौआ, पौना, सवैया, ड्योढ़ा, ढैया या अढ़ैया, हूँठा (साढ़े तीन) और ढ्योंचा (साढ़े चार) आदि के पहाड़े इनमें चुन लिये गये थे।

इन कठिन पहाड़ों का जबानी याद करने में बालकों के मस्तिष्क पर कितना जोर पड़ता होगा इसका अनुमान करना

कठिन नहीं है। उस जमाने की प्रथा के अनुसार इनको याद ही नहीं बल्कि खूब याद करना पड़ता था क्योंकि शिक्षक पहाड़े की परीक्षा बड़ी कड़ाई से लेते थे। परन्तु वास्तव में बालकों पर पहाड़े याद करने का भार अधिक न पड़ता था, क्योंकि उन्हें रोज गा गा कर बोलने से वे बालकों को कठस्थ हो जाते थे या उनके जहन में उतर जाते थे। पहाड़े बोलने का ढङ्ग बड़ा अद्भुत होता था और इन्हें बार बार गा गा कर बोलते बोलते ही ये बालकों को याद हो जाते थे।

पौआ, पौना आदि के शुरू करने से पहले बालकों को सारे जोड़, बाकी, गुणा, भाग सिखा दिये जाते थे। गुरू जी बालकों की पट्टी पर कई हिसाब के सवाल लिख देते थे, बालक उन्हें पूरा हल कर गुरू जी को दिखाते थे। ठीक होने पर गुरू जी उन्हें और सवाल लिख देते थे तथा अशुद्ध होने पर सजा देते थे।

इसके बाद रुपये, आने, पाई, मन, सेर, छटाक, और पैमायशी नापों के जोड़ बाकी, गुणा, भाग सिखाये जाते थे। और उनके अक भी लिख कर बताये जाते थे।

इसी समय गुर भी समझाये जाते थे। ये छोटे गुर याद कर लेने पर सवाल हल करने में बड़े सहायक होते थे। दाम जोड़ने के, नाप जानने के और बट्टा, सूद आदि निकालने के अलग अलग गुर होते थे। यहाँ हम एक छटाँक का दाम निकालने का अत्यन्त सरल नियम उदाहरण सहित उद्धृत करते हैं —

गुर—जितने रुपये सेर की वस्तु हो उतने ही आने एक छटाँक के दाम जानो।

यथा किसी चीज का भाव १० रु० सेर है तो उसी एक छटाँक चीज का दाम १० आना होगा।

बहुत सी ग्राम्य पाठशालाओं में जमीन की पैमाइश सम्बन्धी सादी बातें भी सिखायी जाती थीं। भिन्न भिन्न आकार वाले खेतों को नापना और उनका क्षेत्रफल निकालने के नियम भी सिखाये जाते थे। पटवारी और शायद जमींदारों के लड़के गाँव का हिसाब किताब और पटवारी के कागजों का भी अध्ययन करते थे। परन्तु साधारणतः यह बातें पाठशालाओं में नहीं सिखायी जाती थीं, क्योंकि पटवारी लोग इन्हें अपने पेशे का रहस्य समझ कर अपने घर अपने लड़कों को ही सिखाते थे। जिन पाठशालाओं में वैश्यों के लड़के अधिक पढ़ते थे उनमें देसी व्यापार गणित (व्यवहार गणित, सूद दर सूद, हानि लाभ आदि) की सब बातें सिखायी जाती थीं। हुण्डी लिखना तथा व्यापारी पत्र-व्यवहार करना भी उन्हें यहीं सिखा दिया जाता था।

उर्दू और फारसी के स्कूल—गाँवों में जितनी अधिक संख्या में हिन्दी के स्कूल थे उतनी अधिक संख्या में उर्दू फारसी के स्कूल न थे। लेकिन जैसे आज कल अङ्गरेजी की इज्जत जनता की दृष्टि से देश में है वैसे ही फारसी पर पहले लोगों की बड़ी आस्था थी क्योंकि मुगल बादशाहों, उनके नवाबों

और १८३५ ई० तक अंगरेज़ी अदालतों में भी फ़ारसी का ही व्यवहार होता था।

इस प्रकार नित्य प्रति का काम-काज चलाने की शिक्षा देना ही इन पाठशालाओं का उद्देश्य था। इसके अलावा जिन लोगों को ज़रा ऊँचे सभ्य समाज में आना जाना और 'तहज़ीब' से लोगों के साथ बरतने का काम पड़ता था उन्हें इन स्कूलों में शिष्टाचार की विशेष शिक्षा मिलती थी। इन्हीं सब कारणों से फ़ारसी के स्कूलों में गाँव वाले भी जाते थे, और अन्य लोग भी जब भर्ती होते थे। कायस्थों की संख्या तो प्राय: मुसलमानों से भी अधिक होती थी। लेकिन जब से फ़ारसी अपने राजभाषा पद से च्युत हुई इसकी आर्थिक महत्ता घट गयी। सरकारी नौकरी या बड़े बड़े ओहदे पाने में फ़ारसी सहायक न होगी, यह बात विद्यार्थियों को जल्दी ही विदित हो गया। इस भावना को निम्नांकित पद्य में यों प्रकट किया गया है —

पढ़ें फ़ारसी बेचैं तेल,
यह देखा कुदरत के खेल।

इस प्रकार फ़ारसी के स्कूलों को जो धक्का लगा उसने इनको चौपट कर दिया। लेकिन ब्रिटिश राज्य से पहले इनका काफ़ी बोलबाला था। उर्दू और फ़ारसी एक साथ एक ही मकतब में पढ़ायी जाता था। वस्तुत: आरम्भ में जो अक्षर ज्ञान फ़ारसी के इन मकतबों में कराया जाता था वह उर्दू और फ़ारसी दोनों में एक समान था। डा० एफ० डब्लू० टामस के

शब्दों में "बड़े स्कूल वस्तुत छोटे स्कूलों की पढ़ाई के ऊँच दरजे ही थे।

इन स्कूलों में पढ़ाने की शैला हिन्दी स्कूलों की शैली से मिलता-जुलती थी। सात बरस की उम्र में बच्चे यहाँ भर्ती होते थे। अपनी तख्ती पर शिक्षक के लिखे अक्षरों पर वे उस समय तक हाथ फेरा करते थे। जब तक इनके लिखने और पहचानने की पूरी मश्क न हो जाती था यह क्रम बराबर जारी रहता था। इन अक्षरों को पहचान और उनका ज्ञान हो जाने के बाद लड़कों को जेर, जबर, पेश और तौसीन के निशानात सिखाये जाते थे।

हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में हिज्जे करना अधिक कठिन है; क्योंकि उसमें एक ही उच्चारण के लिए अलग अलग कई अक्षर होते हैं, जैसे "स" का उच्चारण 'स्वाद' 'से' और "सीन" तीनों से हो सकता है। इससे शिक्षक को इनके सिखाने में अधिक समय खर्च करना पड़ता था। हिज्जे करने और अक्षरों के मिलाने के नियम सिखाने में भी काफी समय लगता था। यह बात ध्यान में रखने की है कि इन मकतबों में लिखना और पढ़ना दोनों एक साथ सिखाये जाते थे।

वस्तुत उर्दू की पढ़ाई तो यहाँ समाप्त हो जाता था और फिर आगे फारसी की पढ़ाई आरम्भ होती थी। पहली किताब जो फारसी में आरम्भ में ही अक्सर पढ़ायी जाती थी उसका नाम "खालिक बारी" है। यह उर्दू फारसी, अरबी और हिन्दी

का गुटका कोष है। इसमें दी हुई पहली कविता के प्रथम शब्द के अनुसार इसका नाम रखा गया है—

खालिक बारी सिरजन हार,
वाहिद एक निदा कर्तार।

इसके बाद प्राय 'करामा' नाम की दूसरी किताब पढ़ायी जाती थी। इसका असली नाम 'सअदी का पन्दनामा' है, परन्तु इसके भी पहले शब्द से इसका यह सार्वजनिक नाम पड़ गया था। इस पुस्तक में नैतिक शिक्षा के लिए कविताएँ हैं। ये किताबें प्राय रटा दी जाती थीं और पहली बार की पढ़ाई में इनका मतलब न समझाया जाता था। ठिक ठीक-ठीक याद कराने के लिए पढ़ाते समय हर शब्द के उच्चारण के साथ उसकी हिज्जे करनी पड़ती थी। इसको पढ़ लेने के बाद महमूद नामा, मामुकीमा, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ इत्यादि पढ़ाया जाता थी।

चूँकि फारसी राजदरबार की भाषा थी, इसलिए फारसी में खत लिखना सिखाना भी इस पाठ्य प्रणाली का एक आवश्यक अङ्ग था। इन्शाय माधोराम या अबुल फज़ल के खतों के संग्रह भी पढ़ाये जाते थे। फारसी पद्य के नाम से प्राय प्रेमपूर्ण पद्य ही पढ़ाये जाते थे, यद्यपि बालकों के लिए इन पद्यों का पढ़ाया जाना उचित न था। इसी समय इमला और मुलेख का भी अभ्यास कराया जाता था। जो लड़के आगे की पढ़ाई भी करना चाहते थे, उन्हें सिकन्दरनामा (पद्य-ग्रन्थ) और बहारे-दानिश (गद्य

ग्रन्थ) पढ़ाये जाते थे। उस ज़माने में ये किताबें फारसी साहित्य में शैली के विचार से अपना सानी न रखतीं थीं।

यह सारी पढ़ाई सात से नौ बरस में पूरी हो जाती थी और मक्तब छोड़ने के समय लड़कों को फारसी साहित्य का काफी अच्छा ज्ञान हो जाता था। इन विद्यार्थियों को फारसी से तथा फारसी में भी अनुवाद करने की क्षमता आ जाती थी और वह बड़े सुन्दर अक्षरों में हर प्रकार के और हर विषय के पत्र लिख सकते थे।

इन स्कूलों में व्यावहारिक शिक्षा काफी दी जाती थी, फिर भी इस पाठ्य क्रम में हिसाब किताब कुछ भी नहीं सिखाया जाता था। कायस्थ लोग अपने लड़कों को हिसाब किताब की शिक्षा घर पर ही दिया करते थे ; लेकिन मुसलमानों में यह कमी बनी रहती थी। व्याकरण की शिक्षा भी इनमें नहीं दी जाती थी।

ऊँचे दरजे के स्कूल—यद्यपि जहाँ-तहाँ ग्राम्य क्षेत्रों में ऊँचे दरजे के स्कूल भी खुले हुए थे, तो भी इस पुस्तक में उनका विशेष विवरण देना इसकी सीमा के बाहर होगा। इन स्कूलों का प्रायः जनता पर जो प्रभाव था वह विशेष रूप से सांस्कृतिक था। मुसलमानों के ऊँचे दरजे के स्कूलों में अरबी पढ़ायी जाती थी। इस पढ़ाई में व्याकरण, वैद्यक और धर्म आदि की शिक्षा सम्मिलित थी। इनके अलावा कुछ कुरान पढ़ाने वाले मक्तब भी थे। अधिकतर ये मक्तब मसजिदों में ही लगते थे, और इनमें लड़कों को कुरान की आयतें रटाया जाता था।

संस्कृत पाठशालाओं की संख्या इनसे कहीं अधिक थी और हिन्दू-समाज पर इनका प्रभाव भी प्रत्यक्ष था। यह पाठशालाएँ अधिक स्थायी थीं क्योंकि इनके शिक्षकों के लिए शिक्षण-वृत्ति ही कौटुम्बिक वृत्ति था। इनमें पढ़ाई निःशुल्क होती थी और कई विषयों का शिक्षा दी जाती थी। इससे इनके शिक्षा-क्रम का विस्तार भी बहुत था। वेदान्त, न्याय, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, मीमांसा, महाभारत, रामायण, साहित्य, फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, मनुस्मृति और पुराणादि की पढ़ाई यहाँ होती थी। इन पाठशालाओं में हिन्दी या प्रारम्भिक गणित नहीं पढ़ाया जाता था। यद्यपि इन पाठशालाओं की शिक्षा से बहुत थोड़े लोग लाभ उठाते थे, फिर भी ग्रामीण जनता के आचार-विचार और उनके रीति रिवाजों पर इनका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। इन स्कूलों की इस उपयोगिता पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

विद्यार्थी—अब हम इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का विचार करते हैं। ब्रिटिश प्रबन्ध के पूर्ववर्ती काल में किस किस जाति के कितने कितने विद्यार्थी इन पाठशालाओं में पढ़ते थे यह बतलाना बड़ा कठिन बात है। मि० रीड के आठ अजमाइशी हलकों के सम्बन्ध में सन् १८५२ के दिये हुए अंकों को देख कर शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति का अटकल से कुछ अनुमान किया जा सकता है। २६,८८२ विद्यार्थियों में से (जो सब लड़के थे) ५४९१ तो मुसलमान थे, शेष में ब्राह्मण विद्यार्थियों

की सख्या ६६१४, कायस्थों की ४६५०, बनियों की ३९५८, राजपूतों की १८२१ तथा अन्य जाति के लोगों की ४२९९ थी। पहली तीन जातियाँ पढ़ी लिखी होने के कारण उनके विद्यार्थियों की सख्या समस्त हिन्दू विद्यार्थियों की सख्या का तीन चौथाई होती है। राजपूत लोग प्राय जमींदार थे, अत उनकी सख्या ऐसी अधिक नहीं थी। इन अङ्कों में एक और मार्के की बात यह है कि समस्त जनसख्या के अनुपात के हिसाब से मुसलमान विद्यार्थियों की सख्या का अनुपात अधिक था। जनसख्या में उनका औसत १६ फी सदी था जो अब भी उतना ही है परन्तु मुसलमान विद्यार्थियों की सख्या २० फी सदी थी। ये मुसलान विद्यार्थी किन किन उपजातियों के थे, इसका कोई ब्योरा नहीं मिलता, परन्तु यह मान लेने मे विशेष हर्ज नहीं है कि इनमें बहुत से पढ़े लिखे और ऊँची जातियों के थे। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जहा तक शिक्षा का सम्बन्ध था यह प्राय ऊँची जातियों में ही अधिक फैली हुई थी।

शिक्षा का विस्तार—ऊपर दिये हुए अक कुछ अधिक नहीं हैं और अगर हम इस बात का विचार करते हुए कि इस प्रकार की गणना करने में कितनी कठिनाई होती है, तथा घर पर शिक्षा पाने वाले लड़कों की सख्या इनमें शामिल नहीं है, इनको ठीक मान लें तो भी हम यह अनुमान कर लेने में कोई भूल नहीं करते कि उस समय शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक न था। मि० टॉमसन के अनुसन्धानानुसार शिक्षा प्राप्त करने योग्य

विद्यार्थियों में से केवल ५ फी सदी बालक ही शिक्षा प्राप्त करते थे। सौभाग्य से ग्रामशिक्षा की अवस्था का खासा वर्णन ता० सन १८४० ई० में कृपा बोहरा की पुस्तक की भूमिका में खूब विस्तार से दिया हुआ है।

"बोहर और किसान दोनों ही अशिक्षित हैं। बहुतेरे गाँवों में तो बोहरों में अविद्या इतनी अधिक फैली हुई है कि वे लोग अपने व्यवहार के लेन देन का हिसाब भी बहियों में ठीक ठीक नहीं लिख सकते और जमींदार तो प्रायः सभी अनपढ़ हैं। ऐसी परिस्थिति में अज्ञान के कारण इनके बीच कुछ न कुछ झगड़े टंटे खड़े हो जाना तो बड़ी सहज बात है। बहुतेरे साहूकार तो ऐसे हैं जो कभी कुछ लिखते ही नहीं सिर्फ अपनी याद-दाश्त पर भरोसा रख कर ही सारा लेन देन चलाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्वयम् तो नहीं लिख सकते, परन्तु पटवारी इत्यादि से अपना हिसाब किताब लिखवा लेते हैं। कोई-कोई बोहर अपने हाथ से ही गलत सलत हिसाब लिख कर अपनी आत्मा को सन्तोष या धोखा देते रहते हैं। जब बोहरों की शिक्षा की यह हालत हो, जिनका सारा काम काज बही-खाते पर चलता है, तो कृषकों का निरक्षर होना कौन आश्चर्य्य की बात है? यह बड़े दुख की बात है कि अज्ञान और काहिली के कारण ये लोग बालकपन में शिक्षा प्राप्त करने की ओर ध्यान नहीं देते और फिर जीवन भर अशिक्षित रह जाने से यही छोटी-छोटी बातों के लिए दूसरों के आश्रित रहते हैं।"

आगरे के आस पास की एक जाति विशेष के लोगों का शिक्षा सम्बन्धी यह वर्णन बहुत कुछ चढ़ा बढ़ा कर लिखा हुआ मालूम पड़ता है। सम्भव है कि उपर्युक्त पुस्तक के लेखक ने अपनी पुस्तक का महत्त्व बढ़ाने की धुन में ऐसा लिख दिया हो। उसके समकालीन अन्य लेखकों के लेख से यह स्पष्टतया सिद्ध किया जा सकता है कि मुगल सत्ता के विनाशयुग में भी कुलीन तथा मध्य वर्गीय जनसमुदाय में थोड़ी बहुत शिक्षा का प्रचार अवश्य था।

मेजर ब्राउटन ने 'हिन्दुओं में प्रचलित काव्य' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में यों लिखा है —

"जिन बातों के जानने की मुझे आवश्यकता थी उनकी जानकारी यदि सन्तोषजनक रूप में किसी से प्राप्त हो सकती थी तो हमारी पलटनों के सिपाहियों से ही। इन में हर जाति के हिन्दू हैं, जिन में अधिकांशतः ब्राह्मण और राजपूत हैं*। ये लोग प्रायः हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों के रहने वाले हैं। ये लोग कुलीन कृषक घरानों की सन्तान हैं और गाँव छोड़ने से पहले आवश्यक शिक्षा भी प्राप्त कर चुके होते हैं। ब्राह्मण लोग अपने धर्म के साधारण सिद्धान्तों और कर्मकाण्ड के साथ तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक कथाओं से भी भली भाँति परिचित हैं। इनमें से बहुत से सेना में भर्ती होने के पहले इन विषयों के अच्छे ज्ञाता

---

* मेजर ब्राउटन की पलटन उस समय ग्वालियर में थी और उसके अधिकांश सिपाही पश्चिमी संयुक्त प्रान्त और अवध के निवासी थे।

थे। थोड़े समय में इनकी पुरानी सकोचता कम हो जाती है और ये अपने अफसरों के देश और उनके रीति रिवाज के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक हो जाते हैं। इस जिज्ञासा पूर्ति के बदले में अपने देश से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी सब बातें बतलाने को ये बड़ी प्रसन्नता से तैयार हो जाते हैं।

ऐसे ही एक सिपाही से मुझे इस पुस्तक में प्रकाशित अनेक कवितायें प्राप्त हुई हैं। इस सिपाही के सम्बन्ध में मैंने यह बात बहुधा देखा था कि किसी विषय पर बात करते समय वह प्रायः किसी लोकप्रिय कवि की कुछ कविता जरूर कह देता था। एक दिन जब उसने ऐसी ही एक कविता बड़े चाव से सुनायी और जब मैंने उसके सम्बन्ध में उससे पूछ ताँछ की तो बड़ी प्रसन्नता [redacted] उसने उसकी व्याख्या कर डाली। उसकी कविता सुन कर मैंने उससे उस कविता को मुझे लिखकर देने की इच्छा प्रकट की और जब मैंने उसकी व्याख्या सुनी तो उस काव्य में इतनी सरसता और उनके विचारों में इतनी कोमलता मुझे प्रतीत हुई कि मैंने उससे उसकी भाषा आदि के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की। मैंने उससे यह भी कहा कि इसी प्रकार की कविताओं का एक संग्रह वह मेरे लिए तैयार कर दे और वह सहर्ष इसके लिए राजी भी हो गया। मेरी इस जिज्ञासा का हाल सारी पलटन को मालूम हो गया और बहुत से सिपाहियों ने मेरे इस कौतूहल को पूरा करने के लिए आ आ कर मुझे इस सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी करा दी। अपने देश की कविताओं और

ग्राम्य गीतों के इस विवेचन में मेरी सरल और सच्ची जिज्ञासा से प्रभावित होकर वे लोग बड़े गौरव से मेरी सहायता करते थे और उनके इस प्रेम और श्रद्धा ने मुझे अपने इस कार्य के सम्पादन में बड़ा उत्साह और सन्तोष प्रदान किया।"

सन् १८५२ ई० की इण्डिया एजूकेशन रिपोर्ट में कनिंघम साहब का निम्नलिखित कथन उद्धृत किया गया था —

"भारत के लोगों में ज्ञान सम्पादन की इच्छा का अभाव नहीं है। स्पेन या ग्रीस के तुल्य सभ्य देश भारत में नित्य प्रति जीवन के काम काज चलाने के योग्य पढ़ने लिखने और हिसाब की शिक्षा अवश्य दी जाती है और साहित्यिक और वैज्ञानिक पाण्डित्य के लिए हिन्दू और मुसलमानों में युरोपियन लोगों के समान ही आदर मिलता है। मध्य भारत और युक्त प्रान्त के कायस्थ, पञ्जाब के खत्री और काश्मीर, बङ्गाल और दक्खिन के ब्राह्मण अपने बालकों को नियमित रूप से शिक्षा देते हैं जिससे वे सरकारी दफ्तर या किसी सेठ साहूकार की नौकरी कर सकें। ब्राह्मण अपने बालकों को पारिवारिक पुरोहित और ज्योतिषी अथवा मुंशी या छोटा मोटा अफसर बनाने की दृष्टि से शिक्षा दिलाते हैं। बाहर और बनिये अपने लड़कों को हिसाब किताब में खूब पक्का कर देते हैं और आवश्यकतानुसार बही खाते के काम में भी उस्ताद बना देते हैं। गरीब से गरीब मुसलमान की यही इच्छा रहती है कि उसके लड़के कम से कम एक बार तो जरूर ही कुरान पढ़ लें। यद्यपि उन्हें भाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं हो

पाता फिर भी उनके अक्षरों के ज्ञान मात्र से फारसी में बड़ी सहायता मिलती है। बहुधा अंग्रेजी विभाग के दफ्तरों में नौकरी मिलने की आशा से लड़के अंग्रेजी स्कूलों में भरती करा दिये जाते हैं, क्योंकि अंग्रेजी विभाग के दफ्तरों में देशी भाषा विभाग की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है। कुरान हिफ्ज कराने, फारसी पढ़ाने, अथवा देशी भाषा के सिखाने के लिए और व्यापारी शिक्षा देने के लिए हर शहर या कस्बे में एक या एक से अधिक स्कूल अवश्य ही मिलेंगे। इनमें अध्यापकों को चार आना या इससे अधिक फीस और इसके अलावा सीधा सामान कपड़े लत्ते, ईंधन, अथवा अन्य कई प्रकार की सहायता मिलती ही है। यहाँ मौलवी साहब या पंडितजी का जो सम्मान होता है वह अत्यधिक है। इसी तरह मुसलमानों को अरबी कानून ज्ञान अथवा फारसी कविताओं की जानकारी भी लोक प्रसिद्ध है। जैसा भी कम या अधिक पढ़ा लिखा हिन्दू क्यों न हो उसे तुरन्त 'शास्त्री', या "सिद्धान्ती जी" आदि की पदवी मिल जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के शिष्ट समुदाय में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि ज्ञान 'शराफत या इन्सानियत का पदक और मनुष्यता का चिन्ह है।"

तत्कालीन दोनों लेखकों के उपर्युक्त लेखों से यह बात तो स्पष्ट ही है कि उन दिनों ग्राम्य समुदाय में भी शिक्षा का प्रचार किसी न किसी रूप में जरूर था। बालकों की शिक्षा अधिकांशतः घर पर ही, घर पर पढ़ाने वाले अध्यापक या अभिभावकों द्वारा

मिलती थी। समयोचित शिक्षा तो तत्कालीन मध्य श्रेणी के लोग और साहित्यसेवी समाज अवश्य प्राप्त करता था। हाँ, ग्राम्य जनता का अधिकांश—विशेष रूप से निम्न वर्ग—तो शिक्षा के नाम से बिलकुल कोरा ही रहता था।

इतनी संख्या में स्कूलों के वर्तमान होते हुए भी इस अवस्था का कारण केवल प्रजा की शिक्षा के प्रति उदासीनता ही थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्हें अपने लड़कों को स्कूल भेजना आवश्यक था। उनके दैनिक जीवन की नीरसता में कुछ परिवर्तन हो जाने में जो कौतूहल उत्पन्न होता था, इससे वे अपने लड़कों को स्कूल भेज देते थे। लेकिन स्कूल में केवल भरती हो जाने से यह तात्पर्य न था कि वे कुछ काल तक विद्यालयों में टिक कर विद्यालाभ कर सकेंगे। श्रीयुत रीड साहब के मतानुसार प्रत्येक भारतीय के छात्रजीवन का औसत अधिक से अधिक डेढ़ साल था। परन्तु यह अवधि भी वास्तविक अवस्था का बोध नहीं कराती, क्योंकि स्कूल की मंजूरशुदा छुट्टियों के अतिरिक्त, जो एक महीने में ७ दिन की होती थीं, प्रायः कई दिनों तक बालक स्कूल का मुँह न देख पाते थे।

गदर के समय में प्रसिद्धिप्राप्त राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने (जो युक्तप्रान्त में स्कूलों के पहले हिन्दुस्तानी इन्स्पेक्टर थे) सन् १८८२ के जाँच कमीशन के सामने इस प्रान्त के लोगों की ग़रीबी के कितने ही उदाहरण दिये थे। उन्होंने कहा था, 'पहले लोगों का पेट भरना चाहिए फिर उनको शिक्षित बनाना चाहिए।

गरीबी ही एक ऐसी बला है जो लोगों को उपयोगी और वांछनीय बातों से दूर रखता है। छोटे छोटे बच्चे खेतों से चिड़ियाँ उड़ाने में, ईंधन के लिए गोबर जमा करने में, चौपायों को चराने और पानी पिलाने में और वास्तव में ग्राम्य जीवन के हर काम में अपने माँ बाप की मदद करते हैं। माँ-बाप अपने बच्चों की इस मदद से अपने आपको वंचित नहीं रख सकते। हाँ, जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे अपने बच्चों को किसी पास के स्कूल में भेजने के इच्छुक ही नहीं, वरन् उत्सुक रहते हैं।"

राना साहब जैसे साम्य विचारवादी और अनुभवी व्यक्ति के इस कथन से यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन हो जाता है। यह अवश्य कहना पड़ेगा, कि कृषक अपने बच्चों की मदद से ही अपने को वंचित न समझते थे, वरन् उनके इस तरह शिक्षित बन जाने में वे कोई अच्छाई या भावी लाभ भी अनुभव नहीं करते थे। परिणाम स्वरूप जो माँ बाप अपने बालकों को स्कूल भेजते भी थे, वे उनकी तात्कालिक सहायता मिलने में बाधा पड़ने के कारण स्कूल भेजना बन्द कर देते थे और यह एक प्रकार से आवश्यकभावी भी था। हिन्दी स्कूलों में बालक ८—९ बरस की अवस्था में भरती होते थे और दो एक साल ही में पढ़ना छोड़ देते थे।

इस प्रकार की व्यवस्था के कारण स्कूलों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता था। लम्बी गैरहाजिरी या छुट्टी के कारण बालक अपनी पढ़ाई लिखाई सब भूल जाते थे। अब एक बार पढ़ा हुआ पाठ भूल जाने के कारण ही दुबारा फिर पढ़ाया जाता था।

इन सब बातों से स्कूल की कार्यायुक्तता में भी कमी रहती थी और साथ ही उसकी स्थिति डाँवाडोल रहती थी। स्कूल स्थिर होकर चल भी नहीं पाते थे। प्रतिवर्ष स्कूलों का नये सिरे से निर्माण होता था और जब तक गाँव के पढ़े लिखे कुटुम्बों में बालकों की इतनी संख्या रहती थी जिससे शिक्षक की जीविका चल सके तब तक शिक्षक उस गाँव में रह कर प्रति वर्ष नया स्कूल खोलने में कोई हानि न समझता था। परन्तु जब बालकों की संख्या में कमी हो जाने के कारण जीविका चलाने में कठिनाई पड़ने लगती थी तब शिक्षक दूसरे गाँव में चला जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अनेक स्कूल बहुत ही कम समय तक चल पाते थे। उच्च श्रेणी के स्कूलों में, जहाँ शिक्षा द्वारा जीविका चलाना परम्परागत कार्य था, और जहाँ निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, इतने परिवर्तन न होते थे। जिन स्कूलों में अध्यापक 'घरू शिक्षक' के तौर पर कार्य करता था, वे स्कूल भी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते थे।

उच्च शिक्षा देने वाले स्कूलों की उपस्थिति प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले बिचारे शिक्षक के लिए प्रायः हानिकारक ही प्रमाणित होती थी। पहले तो वे उच्च श्रेणी की शिक्षा ही देते थे, इससे प्रारम्भिक स्कूलों की ख्याति में बाधा पहुँचती थी। दूसरी बात यह थी कि उच्चश्रेणी के स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, इससे अधिकांश बालकों का आकर्षण उधर ही हो जाता था। जो थोड़े बहुत बालक बच रहते थे उनको उस निम्न श्रेणी की शिक्षा

के लिए शुल्क देना पड़ता था। तीसरी बात यह थी कि उच्च श्रेणी के शिक्षक विद्या न बेचने के कारण श्रद्धास्पद माने जाते थे और इसके विपरीत विद्या बेचने के कारण प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षक अधिक मान की दृष्टि से न देखे जाते थे। लेकिन देश निर्धन था, अतः शिक्षा की माँग कम थी और फलतः शिक्षकों की आय भी तदनुसार बहुत स्वल्प हुआ करती थी। अतः यह स्वाभाविक बात थी कि जो लोग इस क्षेत्र में जीवन निर्वाह के लिए उतरते थे वे ऐसी श्रेणी के लोग न होते थे जिनके प्रति जनता की श्रद्धा और विश्वास हो।

देशी स्कूलों की शिक्षा—पुराने स्कूलों का जो वर्णन प्राप्त है वह केवल उनके बाह्य स्वरूप का ही विवरण है और जहाँ तक मेरी जानकारी है उनकी भीतरी चर्या का कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। मेरी शिक्षा-दीक्षा तीन प्रकार के पुराने स्कूलों में हुई है। मुझे घर पर उर्दू पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब आते थे, अतः मुझे उनके अन्तरंग स्वरूप का परिचय है। लेकिन एक बात मैं यहाँ बता देना चाहता हूँ कि जिन स्कूलों में मैंने शिक्षा पायी थी, वे इस समय प्रायः लुप्त हो चुके हैं।

सुन्दर खम्भों और मुगलकालीन मेहराबों से सुसज्जित, मेरे घर से दो फर्लांङ्ग पर एक छोटा सा मन्दिर था। इसमें एक दालान था। इसी में पंडित मोतीलालजी भट्ट अपनी पाठशाला लगाया करते थे। इस पाठशाला में अधिक से अधिक २० बालक थे

श्रौर यहाँ हिन्दी की पढ़ाई होती थी। मुझे अब पण्डितजी के विषय में अधिक बातें स्मरण नहीं रही हैं, तथापि इतना तो स्मरण है कि हिन्दी पढ़ना लिखना मैंने इसी पाठशाला में सीखा था। वहाँ खड़िया मट्टी के घोल में सरकंडे की कलम से पट्टी पर बारहखड़ी लिखने का ही मुख्य कार्य था। इस पाठशाला के मेरे जीवन में वह बड़ा ही सुदिन था जिस दिन पण्डितजी ने मुझ से खास खास व्यक्तियों के नाम लिखवाये थे। मुझे क्रिश्चियन का छपी प्राइमर भी पढ़ने को मिली थी। बस इस पाठशाला में अधिक से अधिक इतनी ही पढ़ाई होती थी।

पण्डित जी अनुशासन में काफी कड़ाई करते थे। स्कूल तो तिराह पर था, फिर भी रास्ते का ध्यान हम लोगों को नहीं रहता था। थोड़ा भी गलती या काम में ढिलाई हुई कि 'चश्मा लगाने वाले पण्डितजी' सब ताड़ जाते थे। उनके हाथ में बेंत तो ज़रूर ही रहता था, लेकिन उसका व्यवहार बहुत कम किया जाता था। कड़ी निगाह और डाट फटकार सुनते ही हम सब ठीक ठिकाने बैठ जाते थे।

ये पंडितजी ब्राह्मण थे, अतः परवार में एक बार उनके लिए एक सीधा पहुँचाया जाता था। इसके अतिरिक्त मेरे चाचा और नाना जी उनको कुछ नकद फीस अलग दिया करते थे। यह फीस कितनी दी जाती थी, यह मुझे ठीक ठीक विदित नहीं है, परन्तु मेरी समझ में यह फीस केवल कुछ आने ही दी जाती होगी।

इस पाठशाला में केवल पढ़ाई ही नहीं होती थी वरन् बालकों के लिए खेल-कूद और मनोविनोद के भी मौके आ जाते थे। प्रति दिन छुट्टी होने से पहले पाठशाला के सभी बालक एक लैन में खड़े हो कर खूब जोर से चिल्ला कर पहाड़े बोलते थे। दो-तीन घंटे चुप चाप बैठ कर काम करने के कारण बालकों में जो एक प्रकार की सुस्ती सी आ जाती थी वह ऊँची आवाज से और गा गा कर पहाड़ों का पाठ करने में हवा हो जाती थी। इस प्रकार पहाड़े दुहराने में किसी प्रकार का भार भी मस्तिष्क पर न पड़ता था। जिस बालक की बारी पहाड़ बुलवाने की होती थी, सिर्फ उसे इस बात का बड़ा ध्यान रखना पड़ता था, कि तनिक भी गलती न होने पाय, क्योंकि ऐसा होने पर उसे तुरन्त ताड़ना मिलती थी।

पण्डितजी की इस पाठशाला की पढ़ाई थोड़े ही दिनों में पूरा करके मैं अपने पिता के पास प्रयाग भेज दिया गया और वहाँ एक महाजनी पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। यहाँ बहीखाता, गणित, और महाजनी पढ़ायी जाती थी। यह पाठशाला शहर के बीचोबीच महाजनीटोला में लगती थी। एक महाजन ने अपना दालान और चबूतरा इस काम के लिए दे रखा था। इसमें एक गुरुजी पढ़ाया करते थे। पाठशाला में चालीस से अधिक विद्यार्थी थे, अतः गुरुजी के दोनों पुत्र भी उनकी मदद पर रहते थे। उनका छोटा पुत्र तो अभी सोलह बरस का ही होगा। दिन में दो बार पाठशाला लगती थी। सबेरे आठ बजे से ग्यारह बजे तक और अपराह्न में दो या

तीन बजे से पाँच बजे तक। बड़े नगर में छोटे छोटे बालक अकेले पाठशाला आने में असमर्थ थे, इसलिए गुरूजी का बड़ा पुत्र लड़कों को उनके घरों से ले आता और फिर उन्हें पहुँचा आता था। लेकिन वह उन्हीं बच्चों के घर पर जाता था जो घर के मालदार और प्रतिष्ठित होते थे और पढ़ाई भी आठ आने या इससे कुछ अधिक देते थे। इस पाठशाला में छोटी बड़ी उम्र के और ऊंची नीची जाति के सभी तरह के लड़के पढ़ते थे।

पाठशाला में पहुँच कर हमीं लोग उसे खोला करते थे। पहले दालान की सफाई की जाती थी। फिर एक कमरे में रखी अधफटी चटाइयां निकाल कर झाड़ी और बिछायी जाती थीं। पट्टियाँ भी वहीं रखी रहती थीं। सब लड़के अपनी अपनी पट्टियाँ निकाल कर घोटते थे। इसके बाद पढ़ाई शुरू होती थी। पहाड़े और गुर रटाये जाते थे। सुलेख लिखाने का भी अभ्यास कराया जाता था। किसी प्रकार की लापरवाही या काहिली असह्य थी और जरा सी भी गलती करने पर सजा मिलती थी। इससे काम अच्छा होता था। ऐसा काम अब नये स्कूलों में देखने को भी नहीं मिलता। पट्टी के बाद कागज पर लिखाना शुरू कर दिया जाता था। गुरूजी ने बहुतेरा पुरानी बहियाँ एकत्र कर रखी थीं। इन्हीं की नक्ल हम लोगों से करायी जाती थी। इसके अतिरिक्त व्यापार सम्बन्धी पत्र, हुण्डी आदि भी लिखायी जाती थीं। महाजनी में पत्र व्यवहार करना एक बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि महाजनों में किसको किस प्रकार का सम्बोधन

या शीर्षक देकर लिखना चाहिए, यह साधारण तरह के पत्रों से भिन्न होता है। हिन्दी में भी पत्र लिखना सिखाया जाता था और जब मुनीमी के काम के लिए अच्छी योग्यता प्राप्त हो जाती थी तो किसी देशी दुकान में काम मिलने में कठिनाई न होती थी। हमारे गुरूजी का बहुत से महाजनों के साथ अच्छा परिचय था, क्योंकि बहुतेरे महाजन और बहुतेरे बड़े बड़े मुनीम भी तो उन्हीं के पढ़ाये हुए थे। इससे उनकी सिफ़ारिश से लड़कों को कहीं न कहीं मुनीमी ज़रूर मिल जाती थी और उनकी पाठशाला में पढ़ना इसके लिए काफ़ी सिफ़ारिश समझी जाती थी।

इस पाठशाला में गुरु जी को नक़द वेतन मिलता था। कभी कभी मेरी मातामही कुछ सामान भेंट के रूप में भेजवा देती थी, परन्तु वह केवल अपनी इच्छा से। इसका कोई नियम न था। अमीर घरों के लड़के गुरु जी को "जड़ावल या जाड़ों के कपड़े" देते थे। हाँ, गुरुपूजा के दिन सभी लड़के गुरुजी की पूजा के लिए जब तक कुछ दक्षिणा जमा न कर लेते, तब तक कुछ भी भोजन न करते थे। अच्छे अच्छे महाजन लोग बढ़िया कीमती कपड़े, मिठाई, दक्षिणा, बरतन आदि से गुरुजी की पूजा करते थे और गरीब लोग फल-फूल और बतासे ही गुरुजी के सामने रख कर अपनी श्रद्धा का परिचय देते थे। लेकिन सब लोग फूलों की एक-एक माला तो ज़रूर ही लाते थे।

पहले हर बालक गुरु जी के सामने जाता और झुक कर प्रणाम करता था, फिर गुरु जी के माथे पर चन्दन लगा कर उनके गले में

माला डाली जाती और फिर साथ में लाया गया सामान उनके सामने रख दिया जाता था। इसके बदले में प्रसन्नता और स्वीकृति के चिह्न स्वरूप, गुरु जी भी उसके माथे पर टीका लगा कर थोड़ी सी मिठाई फल-फूलादि प्रसादी के रूप में उसे दे देते थे। संस्कृत पाठशालाओं में यह पूजन बड़ी विधि से होता था, क्योंकि वहाँ बड़े नियम से मन्त्रोच्चारण के साथ सब काम किया जाता था। एक प्रकार से यह उत्सव एक धार्मिक अनुष्ठान सा बन गया था।

बच्चों के लिए महाजनी पाठशाला में सब से अच्छा दिन नागपंचमी का होता था। उस दिन विद्यार्थी अच्छे से अच्छे कपड़े पहनते और बड़े बना कर गाते निकलते थे। साथ में सुर मिला कर बाँसुरी और ढोलक भी बजती चलती थी। ऐसा ही 'स्वोर्ड डेंस" का खेल मैंने इंग्लैंड में आक्सफर्डशायर के एक ग्राम्य स्कूल के बच्चों को खेलते देखा है। हमारी पाठशाला के सभी बालक एकत्र होकर टोली बना कर गाते बजाते हुए निकलते और अपनी टोली के प्रत्येक बालक के घर पर जाकर उसके द्वार पर श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कोई घटना चित्र या किसी अन्य देवता का रंगीन चित्र लगा देते थे। इस प्रकार सारे शहर का चक्कर हो जाता था। शाम को सब लोग बाजार में एकत्र होते थे, वहाँ अन्य पाठशालाओं के विद्यार्थियों की टोलियाँ भी आती थीं और खेल-खेल में काफी प्रतिद्वन्द्विता हो जाती थी।

मैं मुनीम बनने के लिए इस पाठशाला में नहीं भेजा गया

था, मेरे लिए तो गणित का अच्छा अभ्यास कर लेना ही वहाँ जाने का उद्देश था। इस महाजनी पाठशाला की पढाई समाप्त करने पर मुझे एक संस्कृत पाठशाला में बैठा दिया गया। यहाँ बालकों की संख्या लगभग ४० और कभी-कभी इससे भी अधिक रहती थी। फीस कुछ भी नहीं ली जाती थी। यहाँ अधिकांश बालक निर्धन थे, अतः उनके रहने और भोजन की व्यवस्था भी पाठशाला की ओर से ही होती थी। यहाँ मुझे अमरकोष याद कराया गया और लघुकौमुदी भी याद करने के लिए दी गयी। इनकी कुछ बातें मुझे समझायी भी गयी थीं, किन्तु उस समय वे मेरी समझ में नहीं आती थीं। यहाँ की पढाई मुझे बडी कठिन प्रतीत होने लगी और मेरी इच्छा अंग्रेजी पढने की हुई। उस समय वेद के कुछ सूक्त भी मुझे याद कराये गये थे।

नित्य की पढाई लिखाई के अतिरिक्त संस्कृत पाठशाला की अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। पाठशाला के पंडितजी को संस्कृत की अगणित कहानियाँ याद थीं। उनको समय समय पर सुना कर वे हम लोगों का मनोरंजन भी करते थे और शिक्षा भी देते थे। पाठ पढाते समय इन कथाओं को उदाहरण के रूप में कह कर वे पाठ्य विषय को समझा देते थे। बालकों के विद्यार्थी-जीवन के आदर्श और भविष्य की रूपरेखा अनजाने ही इसी पाठशाला में बन जाती थी। हम लोगों को छोटे-छोटे बहुत से श्लोक याद करा दिये गये थे। इनमें श्री शंकराचार्य रचित प्रश्नो-

त्तरी के श्लोक भी थे। मैं यहाँ पर कुछ श्लोकों का उद्धरण करता हूँ। इससे विदित हो जायगा कि ये श्लोक विद्यार्थी समुदाय में किन भावों का प्रवेश कर देते थे, क्योंकि इन विद्यार्थियों में गुरु के प्रति परम्परागत श्रद्धा होने के कारण उनके मुख से जो भी निकलता था वह अत्यन्त हितकर समझ कर ग्रहण कर लिया जाता था। प्रश्नोत्तरी की तो विशेष महिमा थी, क्योंकि यह तो साक्षात श्री शंकराचार्य द्वारा प्रणीत थी।

अपारसंसारसमुद्रमध्ये समज्जतोमेशरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥

'इस अपार संसार सागर में मुझ डूबते हुए का शरण क्या है, हे कृपालु गुरु कृपा करके मुझे बतावें? इसे पार करने के लिए विश्वेश के कमल पद रूपी बड़ी नौका प्रस्तुत है।'

विष क्या-क्या हैं?
हर प्रकार के विषय भोग।
कौन लोग सदा दुःखी रहते हैं?
जो लोग विषयों में लिप्त रहते हैं।
कौन लोग प्रशंसनीय हैं?
जो लोग परोपकार करते हैं।
पूजनीय कौन हैं?
जो पदार्थों की वास्तविकता को देख लेते हैं।
निर्धन कौन है?
जिसमें अनेक बड़ी बड़ी आकांक्षाएँ हैं।

अमीर कौन है ?

सन्तोषी।

जीवित ही मृत कौन है ?

जीविकाहीन।

मृत्यु तक कौन बातें आगे में रखती हैं ?

झूठी आशाएँ।

बिजली के वेगवाली वस्तुएँ क्या हैं ?

धन, यौवन और आयुष्य।

सब से उत्तम पारितोषिक क्या है ?

जो योग्य पुरुष को दिया जाय।

मृत्यु पर्यन्त पुरुष का क्या कर्त्तव्य है ?

धर्मपथ का अनुसरण करना।

चाणक्य नीति भी इन पाठशालाओं में खूब पढ़ायी जाती थी। बालकों पर इसका आश्चर्यजनक प्रभाव था, क्योंकि इसकी भाषा अत्यन्त सरल, शैली निर्मल तथा ओजपूर्ण है। यही बात उक्त प्रश्नोत्तरी के विषय में भी कही जा सकती है। यहाँ चाणक्य नीति से उद्धृत कर के एक-दो श्लोकों का अर्थ दिया जाता है —

'जिन माता पिता ने अपने बच्चों को शिक्षित नहीं बनाया, वे अपने बच्चों के शत्रु हैं क्योंकि वे शिक्षितों के [illegible] हंसों में बक के समान दिखायी देते हैं।'

'प्रत्येक पहाड़ में रत्न नहीं मिलते, प्रत्यक हाथी मे मुक्ता नहीं मिलता और न हरेक वन में चन्दन क वृक्ष ही मिलते हैं और न हर जगह सच्चे महात्मा ही मिलते हैं।'

कभी कभी बड़ बड़ विद्यार्थी पाठ्य विषय मे से किसी विषय पर शास्त्रार्थ भी करते थे। वह सदैव सस्कृत मे ही हुआ करता था। परीक्षा तो उन दिनों होती न थी, अत शास्त्रार्थ मे जीत हो जाना ही बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। नगर के प्रतिष्ठित विद्वान इन शास्त्रार्थों म उपस्थित होते थे और होनहार विद्यार्थी पर उनकी दृष्टि अवश्य पड़ जाती थी। इन शास्त्रार्थों में जो विद्यार्थी अद्वितीय प्रखरता का परिचय देता था उसको उपस्थित पडित समाज अनेक धन्यवाद देता और "न्याय रत्न" "वेदान्तकेसरी" आदि की उपाधि से उसे अलङ्कृत करता था। लेकिन ये उपाधियाँ केवल वास्तव म योग्य विद्यार्थी को ही मिल पाती थी, क्योंकि पडित लोग प्राय अनुदार भी होते थे और उपाधियाँ इतनी शीघ्रता स नहीं द देते थे।

इस वर्णन स स्पष्ट है कि इन पाठशालाओं का ससार ही विभिन्न था। अधिकारियों क प्रति विशेष प्रकार की श्रद्धा विद्यार्थियों म उत्पन्न की जाती थी, और साथ ही साथ एक प्रकार का विश्वास और धर्म निष्ठा विद्यार्थियों के जीवन का एक अग बन जाता थी। इस प्रकार उसक जीवन का सारा दृष्टिकोण ही सकीर्ण हो जाता था। अपन कर्त्तव्यों का तो उसे पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता था, परन्तु अपने अधिकारों का यह

कोई मर्म न जानता था। इस प्रकार की शिक्षा से वह आदर्शवादी तो अवश्य ही बन जाता था, परन्तु उसमें स्वबुद्धि की लालसा बिलकुल न रह जाता था। यह शिक्षा उसे इतना चिन्तनशील बना देती थी कि वह व्यवहारकुशल नहीं हो पाता था। इन संस्कृत पाठशालाओं में इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इस विषय पर विस्तृत विचार इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली के प्रधान लक्षणों पर एक दृष्टि

१—रटान की प्रवृत्ति

२—लिखने के अभ्यास का अभाव

३—परीक्षाओं का न होना

४—मानीटर की प्रथा

५—कक्षा प्रथा का न होना

प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा देने वाले नाना ही प्रकार के स्कूलों में लड़कों से अधिकतर रटाई का काम लिया जाता था। शिक्षा में मौलिकता को कोई स्थान प्राप्त न था। प्राचीन ग्रन्थ ही ज्ञान-कोष की सीमा समझे जाते थे। इसलिए विद्यार्थियों के लिए सर्वोच्च मार्ग यही था कि वे उन ग्रन्थों का अध्ययन करें। लेकिन पुस्तकें भी उस समय इतनी सरलता से नहीं मिलती थीं। १८वीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक में पहले प्रेस की छपी पुस्तकें संयुक्त प्रान्त में प्रचलित नहीं हो पायी थीं। सार्वजनिक पुस्तकालयों का तो सर्वथा अभाव था, व्यक्तिगत पुस्तकालयों में अपरिचित पुरुष का प्रवेश दुस्तर था। पुस्तक प्राप्त होने पर

भी नक़ल कर लेने में आर्थिक और अन्य अनेक 'कार की कठिनाइयाँ पड़ती थीं। फिर पुस्तकों की माँग भी न थी। इसीसे जल्दी लिखन की गति का विकास न हो सका। जिसके पास कोई पुस्तक होती थी, उसे सदा यही डर लगा रहता था कि कहीं कोई दूसरा व्यक्ति उसे चुरा न ले जाय।

इस प्रकार पुस्तकों पर भरोसा न रख कर ज्ञान भांडार को अपने मस्तिष्क में जमा कर लेना उचित समझा जाता था। इसी लिए संस्कृत में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है —'पुस्तकस्था तु या विद्या, पर हस्ते गत धनम् ,अर्थात् 'पुस्तक की विद्या और पराये हाथ का धन समय पड़ने पर कभी काम नहीं आता।' इसी से रटन में सरलता उत्पन्न करने वाले उपायों का आविष्कार किया गया था। निबन्ध की अपेक्षा कविता याद करन में अधिक सरलता होती है। लम्बे लम्बे पैराग्राफों की अपेक्षा छोटे-छोटे वाक्यों को याद कर लेना सरल है। इसी तरह पर जो बात गा-गा कर याद की जाती है वह अधिक सरलता से याद रहती है। इसलिए श-द कोष, आयुर्वेद, ज्योतिष, औषधि, गणित, वेदान्त आदि जैसे निबन्धात्मक विषयों को भी काव्य में परिणत कर दिया गया था। और व्याकरण के सूत्र बना दिये गये थे। नित्यप्रति के व्यवहार म आने के लिए गणित के नियमों के 'गुर' बना दिये गय थे।

परन्तु इन सब बातों से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि रटाई की प्रथा सभी स्कूलों में प्रचलित थी। कुछ पाठशालाएँ

ऐसी अवश्य थीं जिनमें विद्यार्थी की विचार-शक्ति के विकास के लिए भरपूर अवसर दिया जाता था, लेकिन इनमें भी प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार में रटाई को आवश्यक अङ्ग मान लिया गया था। ग्राम्य पाठशालाओं में तो कण्ठस्थ प्रथा पूरे तौर से देखने में आती थी।

लिखने का अभ्यास भी सामग्री के अभाव के कारण अधिक नहीं हो पाता था। पट्टी या तख्ती के अभ्यास से एक निश्चित सीमा तक ही गति प्राप्त हो सकती थी क्योंकि पट्टी पर छोटे-छोटे अक्षर लिखना कठिन है। कागज उस समय कठिनाई से मिलता था और मूल्य भी उसका अधिक होता था। यही वजह है कि लोग भी कठिनाई से "ताड़पत्र", या "भोज पत्र" का व्यवहार करते थे जो सदियों तक बिगड़ता नहीं था फिर बच्चों को लिखने का अभ्यास कराने के लिए कागज मिल ही कैसे सकता था? इसके अलावा गाँवों में लिखने लिखाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। चिट्ठी चपाती भी कदाचित् ही कभी लिखी जाती हो। बनियों या महाजनों के लड़कों को नहीं खाता लिखने का पाठशाला में अच्छा अभ्यास करा दिया जाता था, क्योंकि स्वच्छ, और सुन्दर लिखावट का अभ्यास किये बिना वे मुनीमी के योग्य नहीं समझे जाते थे। लेकिन ऐसे बालकों को भी लिखने का अभ्यास कराने के लिए कागज इतना सुविधा से न मिलता था। यद्यपि उपर्युक्त अभ्यास में कमी रह जाती थी, फिर भी उनकी लिखावट उत्तम कोटि की होती थी। एक दो सदी की

पुरानी वहियों के देखने का अवसर मुझे मिला है। उनकी लिखावट देख कर मैं दङ्ग रह गया। फारसी के स्कूलों में तो लिखावट का अभ्यास करना एक कला का काम समझा जाता था। लोग इसका सरक्षण भी अच्छा करते थे। ब्रिटिश काल के पूर्व की फारसी, अरबी, हिन्दी या संस्कृत की उत्तम कोटि की हस्तलिखित पुस्तकें इस बात को भली भांति प्रमाणित कर देती हैं।

दूसरी विशेष बात यह थी कि इन पाठशालाओं में किसी प्रकार की परीक्षा नहीं ली जाती था। अध्यापक और विद्यार्थी में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था कि अध्यापक अपने विद्यार्थी की योग्यता से भली भांति परिचित होता था, अत उसे उसकी योग्यता जानने के लिए किसी अलग परीक्षा की आवश्यकता न पड़ती थी। परीक्षा का दूसरा उपयोग अब यह है कि उसकी सहायता से जीविका या प्रतिष्ठा प्राप्त करने में मदद मिलती है, लेकिन उन दिनों नौकरी चाकरी करने के लिए तो विद्या पढ़ी नहीं जाती थी। सभी को अपनी अपनी परम्परागत जीविका मिल जाती थी। जीविकाएँ तो उनकी जातिगत या कुल परम्परा के अनुसार निश्चित रहती थीं और उनमें विद्या की प्रतिष्ठा के लिए परीक्षा कोई माप नहीं थी, परन्तु जो लोग जीवन भर अपने पाण्डित्य की मर्यादा बनाये रख सकते थे, विद्वान समझे जाते थे। इस प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ कर उनमें जीत हार में किसी व्यक्ति की योग्यता का परिचय मिल जाता था और इन्हीं के द्वारा विद्वानों की कीर्ति चमकती

थी। विद्या के सरक्षक या परीक्षा को आवश्यक नहीं समझते थ। यद्यपि परीक्षा का अभाव कुछ लोगो को अवश्य ही पाण्डित्य प्राप्ति क लिए उत्साहित करता था, फिर भी इसक अभाव म साधारण विद्यार्थियो की योग्यता का कोई माप नहीं था।

बड़े बड़े स्कूलों मे एक ही अध्यापक के होने से विद्यार्थियों में 'मानीटरों' द्वारा अनुशासन रखन की प्रथा चल पड़ी थी और ऊँची पढ़ाई के विद्यार्थियो क ही पढ़ाने म अध्यापक का इतना अधिक समय निकल जाता था कि प्रारम्भिक अध्ययन करने वालों को पढ़ाने का काम किसी ऊँची पढाई करने वाले विद्यार्थी को सौंप देना पडता था। यह क्रम प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों मे प्रचलित नहीं था। क्योकि इस स्कूल क अच्छे से अच्छे लडक म भी इतना योग्यता नहीं हो सकती था कि स्कूल के पिछड़े हुए बालक को स्वत पढा सक। फिर एक बात यह भी थी कि इन स्कूलो में विद्यार्थियो की सख्या थोड़ो ही रहा करती थी और अध्यापक का समय भी अपेक्षाकृत प्रत्येक विद्यार्थी पर कम खर्च होता था।

इन स्कूलों में श्रेणियाँ भी नहीं होतीं थीं। सभी बालक एक साथ बैठ कर पढ़ते थ। प्रत्येक बालक अलग अलग जो विषय पढ़ना चाहता, पढता था। पढ़न क लिए भी किसी विशेष पुस्तक का नियम न था। विद्यार्थी जो पुस्तक चाहता पढ़ने लगता था। वास्तव म जो पुस्तक उसे मिल जाती थी वह वही पढ़ लेता था। समान विषय और समान पुस्तकों का अध्ययन करने वाले और

समानगति से चलने वाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही अल्प थी। कभी कभी तीन तीन, चार चार बालकों का टोलियां बन जातीं थीं और वे एक साथ पढ़ने लगते थे। लेकिन इसका कोई नियम न था। प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों में पहाड़ों के पढ़ने के लिए तो एक "दरजा" था, इसमें प्रत्येक विद्यार्थी को अवश्यमेव आना ही पड़ता था। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों में तो जितने विद्यार्थी होते उतने ही दरजे भी हो जाते थे। ऊंची पढ़ाई के विद्यालयों में इस शैली से विद्यार्थी को बड़ा लाभ होता था, किन्तु प्रारम्भिक पढ़ाई के स्कूलों में तो समय और शक्ति दोनों का ही अपव्यय होता था।

अनुशासन—प्रारम्भिक स्कूलों और उच्च कोटि के विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशासन में भी भारी अन्तर था। संस्कृत विद्यालयों में तो कदाचित ही कभी अशिष्टता के लिए किसी विद्यार्थी को सजा मिलती हो। हिन्दी पाठशाला के विद्यार्थियों में भी अपने गुरु के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा होती थी (जो अब भी चली जाती है)। उनके लिए अपने गुरु की उचित या अनुचित आज्ञा का पालन करना स्वाभाविक सी बात होती थी। प्रचलित प्रथा, विश्वास तथा दूसरों का उदाहरण गुरु के प्रति इस श्रद्धा को विद्यार्थी के स्वभाव का एक अङ्ग बना देते थे। इसका अनुमान नीचे लिखे श्लोक से होगा—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥ इत्यादि—

'चराचरों में व्याप्त, अखण्ड मण्डलाकार रूप परमात्मा के पदों का दर्शन जिसकी सहायता से हुआ है उस गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।'

'अज्ञानान्धकार में भी देखने के लिए जिन गुरु ने ज्ञान का अञ्जन मेरी आँखों में लगा दिया है मैं उनको नमन करता हूं।'

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही शिव हैं, गुरु ही स्वयम् परमात्मा हैं। उस गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।'

जब इस प्रकार के विचारों को प्रत्येक विद्यार्थी के हृदय में अङ्कुरित कर दिया जाता है, तो फिर वह उस सहज सत्य समझ कर उसका पालन अवश्य करेगा। इसके अलावा दूसरी बात यह भी है कि उसके इस आचरण पर प्रथा और प्रचलित आचार विचार का भी बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है। पाठशाला में पहुँच कर प्रत्येक विद्यार्थी गुरु का पदस्पर्श करता है या अपने गुरु के पदों में माथा टेकता है और फिर छुट्टी पाने पर भी इसी प्रकार गुरु के प्रति भक्ति प्रकट की जाती है। पाठशाला में पहले ही प्रवेश करते समय विद्यार्थी गुरु की पूजा करता है और प्रति वर्ष गुरुपूजा के दिन भी बड़े समारोह से गुरु की पूजा की जाती है। गुरु और राजा के दर्शन के लिए जाते समय कोई व्यक्ति, वह चाहे कितना ही गरीब क्यों न हो, कभी खाली हाथ नहीं जायगा।

फिर ये विद्यार्थी अपने बड़ों को भी तो ऐसा ही आचरण करते देखते हैं। प्रयाग में मेरे घर के ही समीप म्यार सेंट्रल

कालिज के सस्कृत के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर प० आदित्यराम भट्टाचार्य जी रहते थे। उन्होंने प० मदन मोहन मालवीय जी को पढाया था। जब कभी वे उनके पास आते थे तो बड़ी श्रद्धा के साथ उनके चरणों मे माथा टेकते थे। देश के सर्वमान्य महापुरुषों को इस प्रकार आचरण करते देख कर हम बच्चों पर भी उसका बडा भारी प्रभाव पडता ही! प्रत्येक विद्यार्थी के चित्त मे यह बात पैदा हो जायगी कि गुरु की सेवा करना और उनकी आज्ञा में रहना बड़े सौभाग्य की बात है। व कदापि कोई बात जानबूझ कर ऐसी न करते थे कि जिसस गुरु उनके प्रति रुष्ट हो जायँ। सस्कृत विद्यालयों मे गुरु क प्रति विद्यार्थियों की इस श्रद्धा ने अनुशासन की अनेक समस्याओं का स्वत सुलझा रक्खा था।

हिन्दी स्कूलो म भी सस्कृत पाठशालाओं की तरह बालकों म गुरु के प्रति श्रद्धा रखने की शिक्षा दी जाती थी, किन्तु यहाँ अनुशासन का काम प्रेम अथवा श्रद्धा की अपेक्षा ताड़ना स ही अधिक चलता था। बालकों की छोटी उम्र को देखते हुए पढ़ाई के घटे अधिक थे, फिर पढ़ाई का क्रम और विषय भी ऐसा रूखा था कि छोटे छोटे बच्चों का मन सड़क, उद्यान और बाग बगीचों के लुभावने दृश्य की ओर अवश्य जाता था। ऐसी अवस्था में केवल श्रद्धा और आज्ञापालन क अतिरिक्त बालकों पर अनुशासन करने क लिए अधिक प्रभावशाली साधनों के उपयोग की आवश्यकता थी। वह समय भी ऐसा था जब सदियों के अत्याचार और पाशविक, निर्दय व्यवहार ने मनुष्य स्वभाव को

उसका आदी बना दिया था। उस समय यदि निर्दयता से बालकों को मारने पीटने वाले अध्यापक रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सन् १८५० में मि० रीड ने अपनी रिपोर्ट में पश्चिमोत्तर प्रान्त में तत्कालीन प्रचलित स्वयम् दर्ज हुए चार प्रकार के दण्डों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनके मत का हम यहाँ उद्धृत करते हैं। "ऊपर जिस दण्डविधान का वर्णन हुआ है, वह ऐसे दण्ड थे जो उस बालक को अपने साथियों की दृष्टि में हीन और हास्यास्पद बनाने का कारी थे। ऐसे दण्ड प्राय फारसी और हिन्दी स्कूलों में दिये जाते थे। लेकिन ये दण्ड विधान इतने घृणित और इतने निष्ठुर थे कि कोई अध्यापक उन्हें प्रभावशाली घरानों के लड़कों पर प्रयुक्त करने का साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार ऐसे दण्ड के सर्वथा पाने योग्य बालक भी कभी कभी दण्ड से मुक्त हो जाते थे। यदि कोई बालक कभी अच्छी तरह से पीट दिया गया, तो उसके माता पिता इसी बहाने उसे स्कूल से हटा लेते थे और साथ ही साथ स्कूल की "बकाया" फीस भी जानबूझ कर देना भूल जाते थे। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का दण्ड अभीष्ट फल को प्राप्त करने में असफल सिद्ध होता है। निर्दयता की मात्रा अधिक होने से यह दण्ड असह्य हो जाता है। साथ ही सब से अधिक नटखट बालक को भी दो चार तमाचे या बेंतों से अधिक दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है।"

यह बात स्मरण रखने की है कि कम से कम गाँवों में तो अवश्य ही माता पिता स्कूल जाने या न जाने के लिए बालक को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे देते हैं। वे बालकों पर स्कूल जाने के लिए कोई दबाव नहीं डालते थे। ऐसी अवस्था में भारी दण्ड देना अध्यापक के लिए एक प्रकार से अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ा मारना था। परिणामस्वरूप दण्ड प्राप्त बालक ही नहीं, वरन उसे देख कर अन्य बालक भी भय वश उसके पास नहीं जाते थे। तथापि यह बात माननी पड़ेगी कि कभी-कभी अध्यापक को शिक्षक की अपेक्षा सिंहपालक का वीभत्स रूप धारण करना पड़ता था और इसी प्रकार इसी प्रकृति के मातापिताओं का भी कभी कभी सामना करना पड़ता था।

समालोचना—ऊपर पुरानी शैली के ऊँचे और प्रारम्भिक स्कूलों के पाठ्यक्रम, उद्देश्य तथा, उनमें प्रचलित जीवन का विवरण दिया जा चुका है, परन्तु इतने दीर्घकाल के बाद, उनके सम्बन्ध में किसी बात का निर्णय करना कठिन है। उनके सम्बन्ध में जो सम्मतियाँ इस समय उपलब्ध हैं, वे अधूरी और पक्षपात पूर्ण हैं। कुछ लोग यदि उनकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं तो कुछ लोग कड़ी निन्दा। डा० एफ० डब्लू० टामस के शब्दों में "शुरू शुरू में आने वाले मिशनरी लोग तो हिन्दू देवताओं पर लांछन लगाने में इतने अधिक व्यग्र थे कि उस समय की शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी सम्मति अधिकतर अपूर्ण, एकरंगी और पक्षपातपूर्ण थी।" अङ्गरेजी के पक्षपाती और प्राच्यविद्या के

प्रशासकों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सक्ती है। लार्ड बेन्टिङ्ग जैसे व्यवहार-पटु गवर्नर के निर्णय के बाद ही बहुत दिनों तक ये दोनों दल यहाँ की परिस्थिति को ठीक ठीक न समझ सके। लन्दन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी के अवसर पर भारतीय विभाग में पुस्तकों और अन्य साधनों के सम्बन्ध में एडिनबरा के डाक्टर जार्ज स्मिथ ने १८७८ ई० में अपनी रिपोर्ट लिखी थी। उनका मत है कि फारसी मदरसों और चटशालों में पूर्वी ढंग की विचार पद्धति के अनुसार दर्शन शास्त्र और भाषा विज्ञान सम्बन्धी बहुत उच्च-कोटि की शिक्षा दी जाती थी, परन्तु उससे अवश्य ज्ञान की ही नींव पड़ती थी। इस शिक्षा से यथा शक्ति प्रभु देव न होता था और न विद्यार्थियों के जीवन पर ही इस का कोई स्थायी प्रभाव पड़ता था। पहले की भांति आज भी मिथ्या और कल्पित इतिहास, वनस्पति विज्ञान तथा झूठे दर्शन शास्त्र का ही प्रचार होता था।

इसके विपरीत डाक्टर लिटनर के विचार से अनेक भारतीय पण्डित और मौलवी जर्मन विश्वविद्यालयों तक के प्रतिष्ठा बढ़ाने योग्य थे। इन पुराने स्कूलों की प्रारम्भिक शिक्षा प्रणाली में किंडर गार्टन का पाठ शैली का आभास मिलता है और यहाँ के उच्च कोटि के शिक्षण में आधुनिक शैलियों का दिग्दर्शन होता है। इन शिक्षालयों से प्राप्त होने वाली योग्यता की वे भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। बिहार के एक प्रसिद्ध सिविलियन फ्रेडरिक पिनकाट ने भी इन पाठशालाओं की बड़ी प्रशंसा की है।

इन सब आलोचनाओं में कुछ न कुछ सार अवश्य है। भारतवर्ष में अँगरजों के प्रवेश-काल की शिक्षा प्रणाली की इस गिरी हुई अवस्था को यदि इस दृष्टि से देखा जाय कि यहाँ की जनता का जीवन शताब्दियों से अशान्ति में गुजरा था, और फिर भी वह अपनी श्रद्धा और परम्परा से प्रेरित हो कर थोड़ा बहुत विद्याभ्यास कर लेती थी, तब अवश्य ही इस ओर हमारी सहानुभूति होगी। एक तरफ संस्कृत पाठशालाओं और मदरसों की शिक्षा बिल्कुल पारमार्थिक उद्देश से दी जाती थी, तो दूसरी तरफ प्रारम्भिक पाठशालाओं की शिक्षा का उद्देश बिलकुल सांसारिक था। एक ओर तो सांसारिकता के नाम-मात्र से घृणा थी, यहाँ तक कि जनता की व्यवहार की भाषा तक का निषेध था, तो दूसरी ओर हिन्दी उर्दू के प्रारम्भिक स्कूलों में ठीक इसके विपरीत व्यावहारिकता का ही बोल बाला था। जिस समाज में मध्य स्थिति के लोगों का अभाव होता है वहाँ मध्य मार्ग का अनुसरण करना कठिन हो जाता है। जहाँ तक वस्तुतः शिक्षा दीक्षा का सम्बन्ध था, वहाँ तक उच्चकोटि के स्कूलों की पढ़ाई सफल कही जा सकती है।

मिस्टर एफ० डब्ल्यू टामस ने भारत में अङ्गरेजी शिक्षा का इतिहास और उसकी उपयोगिता नामी पुस्तक में लिखा है कि यहाँ के प्राचीन पण्डित युरोप के पूर्वकालीन नवयुग के विद्वानों से किसी तरह भी कम न थे। वे बनावट व पाखण्ड को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और हमेशा हर बात की तह तक पहुँच कर

ही सन्तुष्ट होते थे। इनकी ज्ञान पिपासा बड़ी प्रबल थी। अनेक टीकाएँ रट कर याद कर ली जाती थीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रश्नों के विवेचन में कई कई दिन तक वाद विवाद होता रहता था। पक्ष विपक्ष के समर्थन में गूढ़ से गूढ़ भाषा प्रयोग का साधन बनती थी और जब किसी प्रश्न की पुष्टि में भाषा विज्ञान की समस्त युक्तियाँ लगा कर एक दिन विद्यार्थियों का सन्तोष कर दिया जाता, तब दूसरे दिन गुरु जी कहते, 'तत् असत्' अर्थात् यह तर्क असङ्गत है। फिर वे अपने पक्ष के समर्थन में विद्यार्थियों द्वारा दिये हुए प्रमाणों का खण्डन उपस्थित करते। इन सब बातों में कितने समय का दुरुपयोग होता था, इसका तो किसी को विचार भी न था। लेकिन किसी भी विषय के समर्थन या उसके खंडन में जो प्रमाण उपस्थित किये जाते थे, वे एक ही तरह के होते थे, क्योंकि वास्तविकता की अनुपस्थिति में उसमें कोई नवीनता आना असम्भव था।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास रचित 'पढ़ पढ़ पत्थर' नाम के प्रहसन में इन शास्त्रार्थों की अव्यावहारिकता का प्रदर्शन खूब अच्छी तरह किया गया है। इनके तर्क में बाल की खाल निकालने का उपहास्य प्रयत्न साफ नजर आता है। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इन विद्यार्थियों को व्याकरण, चिकित्सा शास्त्र, तर्कशास्त्र, कर्मकांड, काव्य, पुराण, शास्त्र, और कुरान इत्यादि का अच्छा ज्ञान होता था। यह सत्य है कि विवेचनात्मक शैली से इन विषयों का अध्ययन न होता था और इनके अध्यापकों को

वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा इन विषयों का कितानी ज्ञान अधिक था। लेकिन जब हम यह देखते हैं कि युराप म भी नवीन शैली के अनुसार अध्ययन करने की परिपाटी थोड़े ही समय से चली है, तो फिर भारतवर्ष म इस शैली के प्रचार का न होना कोई आक्षेप या आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ाने लिखाने और हिसाब सिखाने का बड़ा उत्तम प्रबन्ध था। जबानी हिसाब में लड़के इतने दक्ष हो जाते थे कि आधुनिक शैली पर चलने वाले स्कूलों के लड़के, उनसे बढ़ कर निकलने का नाम तो दूर रहा, उनकी बराबरी भी नहीं कर सकते। पिनकाट साहब के कथनानुसार लड़कों को इन स्कूलों म विषयों का ज्ञान ऐसी पद्धति स कराया जाता था जो उनके लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती थी। इन छोटे स्कूलों में, वे लिखते हैं, जबानी हिसाब का अभ्यास इतना अधिक करा दिया जाता है कि उसे देख कर बड़ा आश्चर्य होता है। लन्दन के दक्षक यदि इन अद्धनग्न बालकों का १०० तक पहाड़ों के गुणा का प्रयोग जबानी करते देखें तो उनके आश्चर्य की सीमा न रहे। कुछ लड़के तो हिसाब किताब में इतने तेज और सिद्ध हस्त हैं कि जबानी ही अनेक प्रकार के प्रश्न हल कर लेते हैं। उन्हें देख कर केवल कागज पन्सिल से ही हिसाब हल करने वालों को अवाक् रह जाना पड़ता है।

यही खाता, लेन-देन, ब्याज बट्टा आदि की पचीदी बातें ऐसी योग्यता और बारीकी से सिखायी जाती थीं कि उसे देख कर

हम उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। यद्यपि उन दिनों लिखन की सामग्री आजकल जैसी सुलभ नहीं थी और न इतनी प्रचुरता में ही मिल सकती थी, फिर भी सुलेख लिखन का इतना अच्छा अभ्यास करा दिया जाता था कि उसकी बराबरी सभी साधन-युक्त आधुनिक स्कूल भी नहीं कर पाते। किसी भी मामूली पुरानी हस्त लिपि या बही खाते को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार इन पुरानी परिपाटी के स्कूलों में साधारण गणित और लिखन का अभ्यास तो पूरी तौर से करा दिया जाता था और यदि पढ़ने का अभ्यास त्रुटिपूर्ण था तो उसका कारण यही था कि छापेखाना के न रहने से उस युग में पढ़ने की सामग्री मिलने में बड़ा कठिनाइयाँ थीं। इन कठिनाइयों को देखते हुए उन दिनों की पढ़ाई का अभ्यास भी इतना बुरा नहीं कहा जा सकता।

पुरानी पद्धति के स्कूलों में पढाई चाहे कैसी भी रही हो परन्तु विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण पर इसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। इनमें से साँचे के ढले जैसे विद्यार्थी निकलते थे। बड़ों के प्रति श्रद्धा, विद्या व्यसन, विनय, त्याग और धर्म में प्रवृत्ति—यही इन स्कूलों में पढे विद्यार्थियों के स्पष्ट लक्षण थे। अध्यापक और विद्यार्थी में पिता पुत्रवत् स्नेह रहता था। गुरु ही उनके लिए नियम निर्माता, गुरु ही उनका संरक्षक, गुरु ही उनके लिए तत्वदर्शी तथा गुरु ही उनका शुभचिन्तक और मित्र होता था। अपने गुरु के प्रति भक्ति और शास्त्र के प्रति श्रद्धा

प्रकट करके गुरु ही स्वयम् विद्यार्थियों के समक्ष आचरण का आदर्श रखता था।

पिनकाट साहब के विचार में ये स्कूल बालकों को साक्षर भी बनाते थे और साथ ही अपने हृदय और मस्तिष्क पर अनुशासन करना भी सिखाते थे। उनमें ईश्वर के प्रति भक्ति, गुरु एवम् शास्त्र में श्रद्धा तथा विद्याभ्यास में प्रेम पैदा करते थे। गुरु सेवा को सम्मानास्पद बतला कर अपने हाथों अपना काम करने में प्रतिष्ठा का समर्थन करना सिखलाते थे। केवल विद्या प्राप्ति के लिए ही अध्ययन करने का उस समय कितना अधिक प्रचार था, इसके लिए आज भी अगणित पण्डितों के जीवन इसका साक्षी दवे हैं। इन पुराने स्कूलों, विशेषत संस्कृत पाठशालाओं, से निकले हुए विद्यार्थियों में विनय का भाव बहुत अधिक पाया जाता है। "विद्या ददाति विनयम्"—विद्या विनय पैदा करती है और जिस प्रकार फलों से लदे हुए वृक्ष उनके भार से झुक जाते हैं, उसी प्रकार विद्या प्राप्त करके विद्वान भी विनीत हो जाते हैं।

इन स्कूलों में पढ़े हुए लोगों के चरित्र के इस पहलू का उल्लेख एडम साहब ने भी किया है। वे लिखते हैं कि ये लोग अधिकतर चतुर, विवेकशील और क्षमाशील होते हैं। उनका यह विनीत भाव किसी अफसर के समक्ष दीनता प्रदर्शित करने के लिए नहीं होता, वरन् अपने समकक्ष लोगों के प्रति भी उनका स्वभाव सदा विनम्र रहता है। मैंने कई बड़े से बड़े विद्वानों को अपनी विद्वत्ता और विद्यानुराग का बड़ा ही सरल और विनीत

शास्त्रों में परिचय देते, अपने सामने उपस्थित किसी अपरिचित ग्रामीण पण्डित की प्रशंसा करते, किसी नगर निवासी, परन्तु अनुपस्थित पण्डित के पाण्डित्य की बड़ी प्रतिष्ठा करते तथा किसी दूसरे नगर के रहने वाले वृद्ध और पदत्यागी पण्डित की भूरि भूरि प्रशंसा करते सुना है, यद्यपि इन लोगों की उपस्थिति में वे उन की विद्वत्ता के सम्बन्ध में मौन रहना ही पसन्द करते।

वेदान्तकेसरी स्वामी के एक प्रतिद्वन्द्वी ने स्वामी जी के साथ प्रतियोगिता की थी। इन दोनों में योग्यता का प्रमाण थोड़े से श्लोकों की रचना ठहराया गया था। परन्तु जब नियत समय में स्वामी जी द्वारा बनाये श्लोकों की संख्या के साथ श्लोक भी वह न बना सका, तो उसके पराजित और तिरस्कृत होने पर भी स्वामी जी ने कहा, 'शूकरी एक साथ छै बच्चे पैदा करके भी हथिनी के एक बच्चे की बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि वह हस्ति शावक राजा की सवारी के काम में आकर सम्मानास्पद बनता है।' उपरोक्त उदाहरण इन लोगों की विनय भावना का बड़ा स्पष्ट परिचायक है।

विद्यानुराग को ये लोग धर्म का मूलमन्त्र मानते थे, क्योंकि उनके धर्म के अनुसार आत्म शुद्धि का यही एकमात्र साधन था। इसी कारण उनके लिए विद्याध्ययन अनिवार्य था। आज भी बहुत से पंडित और विद्यार्थी बनारस तथा अन्य स्थानों में सदा गरीबी में रह कर ज्ञान सम्पादन के लिए संस्कृत एवम् अन्य प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। यद्यपि आर्थिक दृष्टि

से इस शिक्षा का कोई मूल्य नहीं रहा है, परन्तु उनको विश्वास है कि ऐसा शिक्षा प्राप्त करना उनका परम धर्म है। वास्तव में संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों का जीवन ऐसी कठिनाई और गरीबी में गुजरता है कि अगर इस शिक्षा का ऐसा सतोगुणी और धर्मनिष्ठ प्रभाव न होता तो उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो जाती। इस प्रकार सांसारिक जीवन के प्रति इनमें एक प्रकार का विराग उत्पन्न हो जाता था। जीवन की सादगी और विचारों की उच्चता का सिद्धान्त न केवल आदर्श ही माना जाता था, वरन् यह उन लोगों के आचरण से भी प्रत्यक्ष था। शौकीनी की तो बात ही दूर रही, साधारण सुख की बातें भी उनके मत से असंगत थीं, जैसा कि नीचे के श्लोक से विदित होता है —

सुखार्थिनः कुतो विद्या,
कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ?

'सुख की कामना करने वाले के लिए विद्या कहाँ है और विद्या की कामना करने वाले के लिए सुख कहाँ है ?' इस प्रकार परम्परा और शास्त्रों की अनुमति द्वारा ये बातें उनके स्वभाव का अंश ही नहीं बन जाती थीं, बल्कि उनकी प्रकृति सी दृढ़ हो जाती थीं।

एडम साहब ने उनके इस प्रकार के जीवन का विशद वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "मैंने इन लोगों को विद्या प्राप्त कर लेने पर केवल निरभिमान ही नहीं देखा, बल्कि आचार-व्यवहार में भी अत्यन्त सरल पाया है। उनका व्यवहार शायद ही

कभी इतना भद्दा होता है कि उस पर लोगों को क्रोध आ जाय। उन्हें देखकर इङ्गलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के सरल-स्वभाव कृषकों की याद आ जाती है। ये लोग हमेशा अर्द्धनग्न अवस्था में रह कर भूतकालीन असभ्य या अर्द्धसभ्य जीवन का अनुभव करते रहते हैं। ये लोग ऐसी झोपड़ियों में रहते हैं कि यदि उनके नैतिक जीवन का अनुमान हम उनकी शारीरिक परिस्थिति के प्रभाव से लगायें तो स्वभावतः यही प्रतीत होगा कि ऐसे स्थानों में रहने वालों का या तो ज्ञान-विकास अपूर्ण ही हुआ होगा या बहुत ही संकुचित और विरूप। किन्तु वास्तव में इनमें से कितने ही व्यक्ति संसार की परमोत्कृष्ट दार्शनिक भाषा के व्याकरण की बारीकियों के जानकार हुए हैं, जो न केवल उस भाषा की विभिन्न शैलियों के उपयोगों को ही भली भाँति जानते थे, बल्कि उसकी रचना शैली और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के भी पूरे जानकार रहे हैं जो राष्ट्रीय क़ानून और साहित्य के विभिन्न अंगों के ज्ञाता और उनके व्यावहारिक स्वरूप से पूर्णतः परिचित रहे हैं तथा दर्शन शास्त्र और तर्क शास्त्र के गूढ़तम तथ्यों पर बड़ी तत्परता से शास्त्रार्थ करते रहे हैं।" ग्राम की छोटी सी पाठशाला भी अपने विद्यार्थियों में इन्हीं गुणों का समावेश कराने के लिए थी। लेकिन ज्ञान द्वारा उनकी बुद्धि इतनी परिमार्जित न होने के कारण उनमें प्रायः यही गुण दासता का लक्षण मान लिये जाते थे।

यद्यपि यह बात समझने में असंगत प्रतीत होगी, तथापि मेरे विचार में ये उपर्युक्त गुण ही उनके दोष थे। किसी विद्वान

ने गुणों का अतिरेक ही दोष की परिभाषा मानी है। प्रारम्भिक पाठशालाओं में इन बातों की शिक्षा सीमा से अधिक दी जाती थी। यदि यही उचित मात्रा में दी जाती तो इसमें गुण ही गुण बने रहते। बालकों में बड़ों के प्रति नम्रता का भाव इतना अधिक भर दिया जाता था कि वे स्वतन्त्र रूप से विवेकपूर्ण व्यवहार ही नहीं कर सकते थे। उनमें स्वतन्त्र रूप से स्वयम् कार्य करने या किसी विषय पर विचार करने की शक्ति बिलकुल ही दबा दी जाती थी।

बहुत से लोग कुछ विषयों में एक नियमित सीमा तक इस प्रकार की शास्त्र विहित शिक्षा देना तथा किसी नियमित और श्रृंखलाबद्ध विचार प्रणाली के प्रतिपादन में रटाई का अभ्यास कराना इसलिए उपयोगी समझते हैं कि इनसे विचार प्रणाली में परिशुद्धि और यथार्थता आ जाती है। लेकिन इन सब बातों को केवल प्रगतिशील साधन ही समझना चाहिए, न कि एसी पत्थर की लकीर जिसके आगे किसी प्रकार का स्वतन्त्र तर्क व्यर्थ ही नहीं, बल्कि पापमूलक समझा जाय। इसके अतिरिक्त उस समय के पण्डितों का यह स्वभाव हो गया था कि जिन विचारों का वे प्रतिपादन करते थे, उनसे उस विषय की इतिश्री हो जाती थी और उनके शिष्य इसके अतिरिक्त और कुछ करने के अधिकारी न थे कि वे उन्हें सत्य मान कर श्रद्धा से उन पर विश्वास करें और उनके अनुसार अपना आचरण बनावें।

इन पण्डितों के विषय में यह अवश्य कहना पड़ेगा कि वे अपने विद्यार्थियों के सामने उन शास्त्रों का भी वैसी ही योग्यता

से प्रतिपादन करते थे जो उनके विरुद्ध पड़ते थे परन्तु साथ ही साथ इन विचारों को शास्त्रों के प्रतिकूल कहने और उनके विरुद्ध पक्षपात स्थापित कर देने में वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। इस विषय में ये अध्यापक अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार भले ही ठीक समझे जावें, परन्तु सच तो यह है कि उनके दुराग्रहपूर्ण प्रतिपादन से उनके विद्यार्थी पुरानी रूढ़ियों में जकड़ कर लकीर के फकीर बन जाते थे और उनमें यह अटल विश्वास हो जाता था कि प्राचीन काल की सभी बातें सर्वोत्तम और सब श्रेष्ठ होती थीं, जिनका अतिक्रमण असम्भव था। इस प्रकार उनमें किसी प्रकार का अनुसन्धान करने की प्रेरणा तथा शक्ति का सर्वथा नाश हो जाता था।

विनयी भाव को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि विद्यार्थियों में किसी विषय पर असम्मति प्रकाश करने या किसी के मत का विरोध करने की क्षमता का बिलकुल नाश हो जाता था। विनय अवश्य ही विद्वानों में सद्गुण है, परन्तु मूर्ख और अज्ञानियों के लिए तो यह अपनी मूर्खता ही नहीं, बल्कि अपने दोष छिपाने का भी बड़ा अच्छा आवरण हो गया था। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में उदासीनता या विरक्तता का भाव उत्पन्न हो जाने से उनमें से सर्वोत्तम विद्यार्थी आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य ऐहलौकिक उद्योगों के केन्द्र से बाहर हो जाते थे और इस प्रकार यह प्रवृत्ति हमारी भौतिक उन्नति को उनकी दृष्टि में हीन ही नहीं बना देती थी, बल्कि उनके मार्ग में बाधक भी

हो जाती थी। इन पाठशालाओं में पारमार्थिक विषयों और पारलौकिक गुणों की श्रेष्ठता का इतना अधिक प्रतिपादन किया जाता था कि मानव जीवन का वास्तविक स्वरूप और उसकी शारीरिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का बिल्कुल ध्यान न रक्खा जाता था। तात्पर्य यह है कि इस शिक्षा का श्रीगणेश इन्द्रिय दमन और आत्मनिग्रह से होता था और वहीं इसका अन्त भी। इस प्रकार हमारे देश में शिक्षा का यह एक ऐसा अनोखा क्रम था जो हमारे मन को सदा भूतकाल की ओर खींचता रहता था और जिसका लक्ष्य कोई उज्ज्वल भविष्य न हो कर भूतकाल का अदृश्य धुँधला प्रकाश था जिसका नतीजा यह हुआ कि न केवल हमारे विद्यार्थियों की, बल्कि सारी जनता की दृष्टि सदा के लिए पृष्ठपेक्षी हो गयी।

यह तो विचार हुआ राष्ट्रीय दृष्टि से। यद्यपि उपरोक्त कारणों से अनेक हानियाँ होती थीं, तो भी व्यक्तिगत हित की दृष्टि से इस प्रणाली से, अधिक पढ़े लिखे लोगों को मानसिक आनन्द और भौतिक सन्ताप मिलता था। इससे उनका जीवन प्रतिभाशाली, सुखी और आनन्दमय हो जाता था। जो लोग केवल साक्षर थे, उनका भी जीवन इसी प्रकार सुख-सन्तापमय बन जाता था। लेकिन इस शिक्षा प्रणाली में सब से बड़ी बात यह थी कि लोगों में ईश्वर के प्रति अटूट भक्ति उत्पन्न हो जाती थी जिससे उनका जीवन धर्ममय और सदाचारमय बना रहता था। उनमें लोभादि दोषों का दमन करने की ऐसी विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जाती थी कि उनका जीवन पुण्यमय बीतता था।

तीसरा अध्याय

प्रारम्भिक उद्योग

प्रान्तीय भाषा की महत्ता

कलकत्ते से अपना प्रान्त इतना दूर होने के कारण सन् १८३५ ई० की शिक्षा सम्बन्धी घटना की चहल पहल यहाँ तक नहीं पहुँच पायी थी। सन् १८४० में प्रान्तीय शिक्षा के संचालन का दायित्व बंगाल सरकार से निकल कर पश्चिमोत्तर प्रान्त (यू० पी०) की सरकार के अधीन हो गया था। १८४३ ई० में प्रान्तीय लाट सर जे० आर० क्लार्क ने अपना यह मत व्यक्त किया था कि बंगाल की अवस्था चाहे कैसी भी क्यों न हो पश्चिमोत्तर प्रान्त के लिए तो यह बात निश्चित थी कि यहाँ अँग्रेजी के प्रचार की विशेष आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इस प्रान्त में अँग्रेजी भाषा सीखने के लिए कोई प्रलोभन ही न था। यहाँ न तो यूरोपियन की ही ऐसी अधिक बस्ती थी, न धनी व्यापारी समुदाय का अँग्रेजी में कोई कारबार ही होता था। न यहाँ अँग्रेज वकील थे, और न अँग्रेजों के समुद्री व्यापार का यहाँ कोई केन्द्र था। जिन सरकारी नौकरियों में थोड़ी बहुत अँग्रेजी की जानकारी की आवश्यकता

ऐसी उत्कर्ष प्रदायिनी शक्ति की आवश्यकता थी जो उसको अपने स्वत्वों का ज्ञान करा देती। सरकार को यह पूर्ण रूप से विदित न था कि यहाँ की जनता इतनी अशिक्षित और हतोत्साह हो गयी है कि वह अपने स्वत्वों की रक्षा करने के लिए लिखने पढ़ने की साधारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी तैयार न होगी। परन्तु सरकार का यह विचार ठीक था कि इस प्रकार की जनता के पुनरुद्धार के लिए शिक्षा प्रसार ही एकमात्र साधन था।

देशी पाठशालाओं की उपयोगिता का महत्त्व

अँग्रेजों के जातीय स्वभाव में क्रान्तिकारी परिवर्तनों पर विश्वास न करने का भाव निहित है। इनकी सदा यह चेष्टा रहती है कि किसी कार्य की अविच्छिन्न गति में बाधा न पड़े, बनी-बनायी संस्थाओं की उन्नति सुधार द्वारा होती जाय और उनसे, जितना भी सम्भव हो, लाभ प्राप्त कर लिया जाय। अस्तु, इसी उद्देश से प्रेरित होकर इस आज्ञा पत्र में इसकी भी चर्चा की गयी थी कि उचित ध्येय की प्राप्ति के लिए शिक्षा प्रसार द्वारा क्या-क्या साधन उपस्थित हो सकते थे। इसमें लिखा था, "देश भर में फैली हुई पुरानी पद्धति की पाठशालाएँ ही हमारे ध्येय की प्राप्ति में साधक बन सकती हैं। यह सम्भव है कि इस समय ऐसी पाठशालाओं की संख्या अधिक नहीं है और उनमें दी जाने वाली शिक्षा भी बहुत साधारण और असंस्कृत है, परन्तु उनकी संख्या बढ़ायी जा सकती है और उनकी शिक्षा पद्धति में भी उन्नति की जा सकती है।"

इस प्रकार प्रारम्भ में सरकार की शिक्षा प्रचार की नीति यह थी कि उस समय की पाठशालाओं की स्थिति का सुधार हो और उनकी शिक्षा प्रणाली की उन्नति की जाय। सरकार का यह विश्वास था कि जनसाधारण की शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे प्रान्त की पाठशालायें बड़ी जबर्दस्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण हैं और हमारे यहाँ की सशक्ति और बुद्धिमत्त जनता में शिक्षा-प्रचार के लिए नयी-नयी पाठशालायें खोलने की अपेक्षा इसी पाठशालाओं ही में आवश्यक सुधार करके तथा उनकी संख्या बढ़ा कर, उन्हीं के द्वारा शिक्षा प्रसार करना अधिक सुविधा-जनक, विनकपूर्ण और मितव्ययता का काम होगा।

प्रजा के उपक्रम का प्रोत्साहन

इस आज्ञा पत्र की एक और महत्त्वपूर्ण और उपयोगी नीति यह थी कि लोगों पर शिक्षा का भार न लाद दिया जाय और न सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही उसका प्रचार किया जाय। भले ही सरकार बड़ा जबरदस्त प्रोत्साहन देकर जनसाधारण में शिक्षा के महत्त्व को समझने का ज्ञान पैदा करे, परन्तु प्रत्येक अवस्था में कार्य जनसाधारण की ओर से ही आरम्भ होना चाहिए। साथ ही साथ यह प्रवृत्ति एकपक्षीय भी न होनी चाहिए और जनसाधारण को इसके खर्चे में ही नहीं, बल्कि इसके प्रति अनुराग प्रकट करने और इसके प्रतिपादन की सफलता में भी भाग लेना चाहिए। हमारे देश में शिक्षा-

प्रचार की उन्नति उसी समय सम्भव है, जब सरकार को जन साधारण का सहयोग प्राप्त हो। इसीलिए इस सर्क्युलर का यह मन्तव्य ठीक ही था कि इन सब और अन्य चेष्टाओं में यह नितान्त आवश्यक है कि सरकार को जनसाधारण का सहयोग प्राप्त हो और उसकी यह नीति रहे कि वह उनकी सुचेष्टाओं में उनकी सहायता करे, न कि सरकार अपनी सारी शक्ति लगा कर जनसाधारण की चेष्टा की प्रवृत्ति को ही मन्द कर दे। इस प्रकार के विवेकपूर्ण प्रोत्साहन से ग्रामीण पाठशालाओं की उन्नति में ही सहायता न मिलेगा, बल्कि शिक्षा प्रचार के लिए ऐसे मनुष्यों का सहयोग प्राप्त हो जायगा, जिनको जनसाधारण अपना शिक्षक और सहायक मान लेने को प्रस्तुत हैं। इस सर्क्युलर में यह भी आशा प्रकट की गयी थी कि शीघ्र ही गाँव का अध्यापक जनता के ऐसे प्रतिष्ठित और सार्वजनिक सेवक का स्थान प्राप्त कर लेगा जिसका पारिश्रमिक गाँव की आय पर एक नियमित और अधिकृत व्यय माना जायगा।

१८४५ ई० की शिक्षा सम्बन्धी अवस्था

इस आदेशपत्र में जिले के अधिकारियों को शिक्षा प्रसार में प्रोत्साहन प्रदान करने का परामर्श दिया गया था, परन्तु उसका मुख्य उद्देश दूसरा था। सरकार शिक्षा सम्बन्धी सारी बातों की जानकारी प्राप्त करना चाहती थी, जिससे वह नवीन शिक्षा प्रचार की योजना तैयार कर सके। यह जाँच ३१ जिलों में की

गयी थी। इनमें से ९ जिले अब पंजाब प्रान्त में सम्मिलित हैं। अवध उस समय तक इस प्रान्त की अमलदारी में सम्मिलित नहीं हुआ था। अंग्रेजी और मिशन स्कूलों को छोड़ कर सारे प्रान्त में—नगर और गाँव के—हर प्रकार के स्कूलों की संख्या केवल ७९ ८ थी। शिक्षा ग्रहण करने योग्य अवस्था के बालकों की संख्या १९३३,१३८ थी। इनमें से केवल ७०,८२६ अथवा .७ प्रति शत बालक ही उस समय शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।

यह औसत इतना कम होने पर भी, शिक्षा के अभाव का सच्चा निर्देशक न था। हाँ, इससे शिक्षा की गिरी हुई दशा का कुछ आभास अवश्य मिलता था। जमीन्दार जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने की जरा भी परवाह न करते थे। सारी जनता में अविद्या का अन्धकार छाया हुआ था। वस्तुतः गाँव में कदाचित ही कोई ऐसा व्यक्ति मिल सकता था जो किसी प्रकार थोड़ा बहुत शिक्षित कहा जा सकता हो।

शिक्षा सम्बन्धी नयी योजना

इस जाँच की रिपोर्ट के आधार पर मि० टॉमसन ने अपनी शिक्षा प्रचार की योजना तैयार की, जिसका आभास आदेश पत्र में ही मिल चुका था। बङ्गाल और बिहार की पाठशालाओं के सम्बन्ध में मि० एडम की रिपोर्ट से प्रभावित होकर ही, उन्होंने देसी स्कूलों को प्रोत्साहन देने, उनकी संख्या बढ़ाने और उन्हें

संगठित करने की योजना तैयार की थी, लेकिन उनको स्थायी बनाने की योजना तो नितान्त मौलिक था।

भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से निरंकुश शासन चला आता है, इसलिए यहाँ की जनता हर बात में शासक की अग्रसरता की आदी पड़ गयी है। मि० टॉमसन का यह आदर्श, जिसमें जनता शिक्षा प्रचार के कार्य में स्वतः अग्रसर हो, केवल जन सत्तात्मक शासन में सम्भव था। उस समय तो इङ्गलैण्ड में भी शिक्षा जन सत्तात्मक शासन के अधीन न थी। यहाँ की कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण कर, जनता के उद्योग और उपक्रम को आधुनिक नीति के साथ साथ सरकारी संरक्षण का भी महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा की। पहले के शासकों ने समय समय पर शिक्षा प्रसार के लिए 'मुआफी' और जागीरें प्रदान की थीं। ये मुआफियाँ प्रायः व्यक्ति विशेष को ही दी जाती थीं, और वे उनकी परम्परागत सम्पत्ति बन जाती थीं। जनता इस जागीर प्रथा की अभ्यस्त थी और इसकी उपयोगिता भी खूब समझती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अनेक जागीरें जब्त कर ली थीं, यहाँ तक कि शिक्षा प्रसार के लिए दी हुई जागीरें भी जब्त कर ली गयी थीं। मि० टॉमसन का मत था कि सरकार शिक्षा प्रसार के लिए ऐसे रूप में सहायता दे, जो जनता को आकर्षक मालूम हो और जिसके मूल्य को भी वह समझ सके।

सरकारी सहायता की आवश्यकता सब को विदित थी। जनता निर्धन थी और यद्यपि शिक्षा प्रसार का थोड़ा बहुत कार्य जारी था, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष ही था कि जनता के लिए सरकारी सहायता बिना स्कूलों का सञ्चालन करना कठिन था। इसलिए उन्होंने एक ऐसी योजना तैयार की, जिसके अनुसार २० से ४० रु० सालाना लगान की अथवा ५ से लेकर १० एकड़ तक की जमीन, प्रत्येक ग्राम के स्कूल को 'मुआफी' के रूप में देने की सिफारिश की गयी थी। जमीन्दारों को यह विश्वास दिलाने पर कि इस 'मुआफी' से पाठशाला में अध्यापक का पोषण किया जाएगा, सरकार उतनी जमीन पर लगान माफ कर देने को तैयार होगी। ये जागीरें पुरानी जागीरों की भाँति व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति न होकर अवैयक्तिक होनी चाहिए थीं। स्थान विशेष के प्रतिष्ठित और गण्यमान्य सज्जनों और जमीन्दारों पर उस के सञ्चालन का भार रख कर इस योजना में पाश्चात्य लोक-प्रवृत्ति का भी स्थान दिया गया था। अध्यापक की नियुक्ति करना भी इन्हीं लोगों के हाथ में रखा गया था और उसकी कम से कम योग्यता भी निर्धारित कर दी गयी थी।

सरकारी नियन्त्रण भी इस योजना का एक अङ्ग था। कलक्टर को यह आज्ञा थी कि वह जमीन्दारों और प्रतिष्ठित लोगों का प्रार्थना पत्र आने पर स्वयम् इस बात की जाँच करके पता लगाये कि गाँव वाले स्कूल खोलने के लिए वास्तव में इच्छुक हैं या नहीं। वह यह भी देखे कि उनके दान के प्रस्ताव

की कितनी यथार्थता है। इसके बाद वह सरकार से इस बात की सिफ़ारिश करे कि उस भूमि को लगान से मुक्त कर दिया जाय। इस योजना में राज्य नियन्त्रण का भी समुचित प्रबन्ध था, क्योंकि अध्यापक की नियुक्ति के सम्बन्ध में कलक्टर की स्वीकृति आवश्यक थी और उसको स्वयम् तथा उसके सहायक अधिकारियों को समय समय पर स्कूलों का निरीक्षण करने का अधिकार दिया गया था। उनको यह भी देखना पड़ता था कि उस दान का उपयोग वास्तव में अध्यापक के निर्वाह के लिए ही होता है या नहीं। उनको यह भी अधिकार था कि वे किसी अयोग्य अध्यापक को तुरन्त हटा दें और यदि ऐसा न किया जाय तो स्कूल के लिए दान की हुई भूमि को वापिस ले लें।

यह योजना जाँच के परिणाम के साथ साथ ईस्ट इन्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजी गयी, क्योंकि गदर से पहले सारे खर्च की स्वीकृति उन्हीं से ली जाती थी। इसके साथ के पत्र में हमारी प्रान्तीय सरकार के सेक्रेटरी मिस्टर थोमसन ने लिखा था, यह परिपाटी इस प्रान्त की जनता के रीति रिवाज और उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल है। इसके अनुसार अध्यापक गाँव का एक ऐसा सार्वजनिक सेवक हो जायगा जिसकी नियुक्ति और जिसका निर्वाह ग्रामीण जनता की पूर्व प्रथानुसार होगा।' जागीर प्रथा की सिफ़ारिश के लिए प्रान्तीय सरकार जिन कारणों से प्रेरित हुई थी, उनका उल्लेख करते हुए उसमें लिखा था कि नक़द वेतन देने की अपेक्षा,

मुआफ़ी में भूमि दे देना कहीं अच्छा होगा, क्योंकि इससे वेतन की अपेक्षा, चाहे वह उस भूमि की आय से अधिक ही क्यों न हो, लोगों की निगाह में अध्यापक का पद अधिक सम्मान-सूचक प्रकट होगा। इस अवस्था में अध्यापक का जनता के साथ भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, जिससे उनमें सरकार के वेतन भोगी कर्मचारी की अपेक्षा उसकी सेवाओं का अधिक मान होगा।

पत्र के अन्त में डाइरेक्टरों को मानो उनके उत्तरदायित्व का स्मरण दिलाने के लिए लिखा हुआ था, "ब्रिटिश गवर्नमेण्ट पर यह अभिशाप सदा लगाया जाता है कि वह पुराने शासकों द्वारा दी हुई जागीरों को तो बराबर छीनती चली जाती है, किन्तु स्वयम् उस उद्देश पूर्ति के लिए भी एक जागीर नहीं देती, जिसको वह स्वयम् भी उचित और उपयुक्त समझती है। यह योजना इस अभिशाप को कुछ अंश में अवश्य दूर कर देगी, और वह भी इस प्रकार जिसे जनसाधारण पसन्द करते हैं।"

जागीर देने की योजना पर थोड़ा आलोचनात्मक विचार करने की आवश्यकता है। मिस्टर टॉमसन की गणना उस उच्चकोटि के शासकों में है, जो जनसाधारण की भावनाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, और कम से कम हमारे देश में तो ऐसे ही शासक सफल हुए हैं जिन्होंने जनसाधारण पर उनकी भावनाओं के अनुकूल शासन करने की चेष्टा की है। शिक्षा के लिए जागीर देने की योजना से अवश्य ही उनकी मनोभावनाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता। इसके अतिरिक्त टॉमसन को

इच्छा थी कि इस शिक्षा पद्धति को जनसाधारण के रीति रिवाज और उनकी मनोवृत्तियों के अनुकूल बना कर राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया जाय। भारतवर्ष में जनसाधारण की दृष्टि में भूमि का स्थान इतना ऊँचा है कि विदेशियों के लिए इसका अनुमान करना भी कठिन है। यहाँ तो एक साधारण छोटे से जमीन्दार का सम्मान किसी लखपती व्यापारी की अपेक्षा भी बहुत अधिक है।

यहाँ की जनता की दृष्टि में किसी मनुष्य का पद और उसका मान प्रतिष्ठा इस बात पर अधिक अवलम्बित है कि उसके अधिकार में कितनी भूमि है। इसीलिए भूमि मिलने से ग्रामीण जनता की दृष्टि में अध्यापक का सम्मान अवश्य ही बहुत बढ़ जाता और उनके साथ उसका सम्बन्ध भी अधिक दृढ़ हो जाता। एक दूसरी बात यह भी थी कि यह प्रबन्ध अधिक सुविधाजनक और स्थायी भी होता, क्योंकि ऐसा कर देने से बार बार कम्पनी के डाइरेक्टरों की स्वीकृति मँगाने की कठिनाइयों और असुविधा से भी बचाव हो जाता। अगर यह योजना स्वीकृत हो गया होता तो आज प्रत्येक गाँव में एक ऐसी प्रथा का नींव सुदृढ़ हो जाती जिससे, थोड़ी बहुत अतिरिक्त आय की व्यवस्था हो जाने पर, हमारे यहाँ की शिक्षा प्रचार की वर्तमान आर्थिक समस्या बहुत कुछ अंशों में हल हो जाती।

परन्तु इस प्रस्तावित योजना के विरुद्ध बहुत सी आपत्तियाँ भी थीं। जागीर मध्यकालीन युग की स्मारक अवश्य थी। इस

युग में, जब न तो अच्छी सड़कें थीं, न आने-जाने के सुगम साधन थे, और न मुद्रा का सुलभ आदान प्रदान सम्भव था, ठीक समय पर और नियमित रूप से वेतन वितरण करना बहुत कठिन था। उस समय तो जिन लोगों को वेतन मिलता था, उन्हें प्राय साल भर में या छठे महीने ही एक बार मिल पाता था। यह अवश्य ठीक है कि उस समय के जागीरदार का जनता पर बहुत प्रभाव था, परन्तु साथ ही साथ वैतनिक कर्मचारियों का मान भी दिन प्रति दिन बढ़ रहा था। एक तरह से तो जागीर मिलने से अध्यापक की आय अवश्य ही अनिश्चित हो जाती, क्योंकि इस योजना में सूखा आदि से फसल मारी जाने, दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आ जाने से जो हानि होती, उसका कोई प्रबन्ध न रक्खा गया था और इसलिए अध्यापक की वृत्ति एक प्रकार से स्थायी होने पर भी उसके लिए सदा चिन्ता का कारण रहती।

योजना की अस्वीकृति

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने योजना के इस अंश को पसन्द नहीं किया और उन्होंने उस के इस अंश को अस्वीकार कर दिया। फिर भी वे जनसाधारण में शिक्षा प्रचार के लिए टॉमसन से भी कहीं अधिक उत्सुक थे। उन्होंने हमारे प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार में प्रोत्साहन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लिया था और स्वयम् व्यापारी होने की हैसियत से यह बात उनके घट उतर गयी थी कि यह

नितान्त आवश्यक था कि जमीन्दारों में कम से कम इतनी योग्यता तो अवश्य ही होनी चाहिए कि वे पटवारी के कागजों के इन्दराजों की जाँच कर लें और यह समझ लें कि उनकी देनदारी क्या है ?

चाहे तो अनपढ़ जन साधारण में शिक्षा प्रचार की लोक-हितैषी इच्छा के कारण या पटवारी के कागजों के इन्दराजों की जाँच करने और अपनी देनदारी की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता के कारण (अथवा, सम्भव है, दोनों ही बातों से प्रभावित होकर) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने हमारे प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के इस प्रस्ताव का बड़े उत्साह से समर्थन किया कि ग्रामीण जनता में शिक्षा प्रचार की परम आवश्यकता थी। टॉमसन साहब ने अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करने में अपने उत्साह की अपेक्षा विवेक से अधिक काम लिया था, और इसलिए उन्होंने अपनी योजना बनाने में बड़ी सावधानी की थी। लेकिन डाइरेक्टरों ने इस विषय में बड़ा प्रशंसनीय उत्साह दिखाते हुए लिखा कि ऐसी परिस्थिति में हम जनसाधारण में शिक्षा प्रचार के लिए इससे भी अधिक ऐसी विस्तृत योजना को, जिससे सारे प्रान्त में सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हो जाय, स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, जिसे आगरा प्रान्त की सरकार की भी स्वीकृति प्राप्त हो। गाँव के अध्यापकों को जागीर रूप में जमीन देने का निषेध करने पर भी उन्होंने लिखा कि वे उन अध्यापकों को माहवारी वेतन देने के लिए तैयार हैं जो आवश्यक

योग्यतानुसार बड़े-बड़े गाँवों में नियुक्त किये जायें अथवा जो पहले ही से नियुक्त हों। परन्तु इन अध्यापकों को वेतन देना स्वीकार करते समय वे इस बात का ध्यान लेना चाहते थे कि अपना काम सुचारु और नियमित रूप से करने के लिए वे वैध अधिकारियों द्वारा स्थानीय गवर्नमेण्ट के समक्ष उत्तरदायी हों।

दूसरी योजना

अब टॉमसन साहब ने दूसरी योजना प्रस्तुत की। इसके अनुसार हर तहसील में एक-एक ऐसा सरकारी स्कूल खोलने का प्रस्ताव किया गया था जो पास पड़ोस के स्कूल के लिए आदर्श का काम दे। इस योजना में देशी स्कूलों की भी उपेक्षा नहीं की गयी थी, और उनके निरीक्षण के लिए भी व्यवस्था की गयी थी। इन पाठशालाओं की देख भाल करने और जनसाधारण तथा स्कूलों को परामर्श और सहायता देने तथा उनका उत्साह बढ़ाने के लिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की सिफारिश की गयी थी, जिनको सरकार अपनी क्रमिक उन्नति की सावधान नीति के अनुसार, 'इन्सपेक्टर' के बजाय 'विज़िटर' के नाम से व्यक्त करना चाहती थी। इन इन्सपेक्टरों को इस बात का अधिकार दिया गया था कि वे योग्य अध्यापकों को पुरस्कार भी दे सकें। यह पारितोषिक भविष्य में उनका वेतन नियत करने का साधन भी बन सकता था।

इस पद्धति में हर ज़िले के लिए एक निरीक्षक और उसकी सहायता के लिए तीन परगना नायक रखने की योजना की गयी

थी और इनके कार्य के निरीक्षण और उसके नियमन करने के लिए एक प्रधान निरीक्षक (विजिटर जनरल) की नियुक्ति की सिफारिश की गयी थी। प्रारम्भ में तो इस पद पर किसी अनुभवी योग्य सिविलियन को नियुक्त करना था, क्योंकि इस योजना की सफलता, ऐसे अधिकारी की मालगुजारी प्रथा की विस्तृत जानकारी और जन साधारण में उस प्रभावशाली धाक पर निर्भर थी, जो इस देश में हर सिविलियन के नाम के साथ परिवेष्टित है। इन निरीक्षकों और अध्यापकों की जो योग्यता इस योजना में अपेक्षित थी, उसके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय हमारे प्रान्त की शिक्षा कितनी हीन अवस्था को प्राप्त हो गयी थी। जिले के विजिटर (आजकल के डिप्टी इन्सपेक्टर) को हिन्दी और उर्दू की इतनी जानकारी होनी चाहिए थी जिससे वह इन भाषाओं को पढ़ लिख सके और साधारणतया हिन्दी उर्दू में पढ़ायी जाने वाली पुस्तकों का भी ज्ञान रखता हो। उसके लिए फारसी या संस्कृत का भी कुछ ज्ञान होना आवश्यक था। जमीन के बन्दोबस्त की मिसिल तैयार करने, पटवारी के बहीखाते पढ़ने और समझने तथा साधारण गणित, जमीन की नाप आदि का भी उसे जानकारी होना अपेक्षित थी।

परगने के विजिटरों और तहसील के अध्यापकों में हिन्दी-उर्दू का साधारण ज्ञान तथा इन भाषाओं में लिखी हुई अन्य साधारण पुस्तकें पढ़ कर समझ लेने की योग्यता और रामसरन-दास की चारों पुस्तकों का ज्ञान होना जरूरी था।

पढ़े लिखे आदमियों की उस समय में इतनी कमी थी कि इतनी कम योग्यता वाले पुरुष के लिए भी १०० रु० से २०० रु० तक मासिक वेतन रखा गया था। इस समय रुपये का मूल्य पूर्वापेक्षा अत्यधिक घट गया है, फिर भी आजकल एम० ए० पास व्यक्ति को यदि १०० रु० मासिक मिल तो वह अपने को भाग्यवान समझता है। इसी प्रकार परगना विजिटरों का वेतन ३० रु० से ४० रु० मासिक, और तहसीली स्कूलों के अध्यापकों का १० से २० रु० मासिक देने की व्यवस्था इस योजना में रखी गयी थी। इसके अतिरिक्त अध्यापकों को बालकों की फ़ीस का रुपया भी स्वयम् रख लेने का अधिकार मिला था। इतना वेतन मिलने की व्यवस्था रहने पर भी विजिटर जनरल की शिकायत थी कि उस समय अच्छे और सुयोग्य अध्यापक मुश्किल से ही मिलते थे।

योजना की स्वीकृति

टॉमसन साहब ने पहले केवल आठ ही जिलों में इस योजना का प्रयोग करने और फिर इसे धीरे धीरे सारे प्रान्त में फैला देने का प्रस्ताव किया था। किसानों में इस प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा की योजना को डाइरेक्टरों ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और इस कार्य के लिए ५० हज़ार रुपये सालाना का खर्च मन्ज़ूर कर दिया।

तदनुसार १८५० ई० में बरेली, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, मैनपुरी, शाहजहाँपुर, फ़र्रुख़ाबाद और इटावे के जिले में यह

होने और उनके स्थान में नये सरकारी स्कूल या बोर्ड स्कूलों के खुलने के कारणों का विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा कि मि० टामसन ने जन समुदाय में शिक्षा प्रचार के काम म सरकार की सहानुभूति उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने शिक्षा प्रचार की नीति और उसके सचालन क लिए एक ऐसा साधन उपस्थित कर दिया था कि पश्चिमोत्तरी प्रान्त (यू० पी०) के शिक्षा प्रचार क इतिहास म एक नवीन युग आरम्भ हो गया।

चौथा अध्याय

व्यवस्थापन और एकीकरण

(१८५०—८२ ई०)

अधिकारी वर्ग का शिक्षा-पद्धति पर प्रभाव

शिक्षा विभाग के 'डिरेक्टर जनरल' के पद पर बंगाल सिविल सर्विस के एच स्टीवार्ड साहब की नियुक्ति हुई और उन्होंने सन १८५० से अपना कार्य आरम्भ किया। सरकार की यह नवीन योजना पूर्ण रूप से क्रान्तिकारी थी, क्योंकि यह प्रजा के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक जीवन के अन्तस्थल को भली भाँत प्रभावित और स्फुरित करने वाली थी। किन्तु इस शिक्षाविभाग की स्थापना ऐसे शासनाधिकारियों की अध्यक्षता में हुई थी जो अनुगमन मात्र से शिक्षा प्रचारक भी बन गये थे। इसका फल यह हुआ कि हमारे यहाँ का शिक्षा प्रणाली आरम्भ ही से शासनाधिकारियों के विचारों के रंग में रंग गयी।

शासन का कार्य सरलता के साथ चलाने तथा पदाधिकारियों की सुविधा की दृष्टि से शिक्षा-विभाग भी शासन प्रबन्ध का एक अंग बना दिया गया था। मालगुजारी की योजना को सफल बनाने की दृष्टि से ही किसानों में शिक्षा प्रचार का आयोजन

किया गया था। शिक्षा के नैतिक लाभ का विचार तो एक प्रकार से आवश्यकीय उपलक्ष था जो बाद में इस नीति के साथ जोड़ दिया गया। इसका पाठ्य क्रम भी इसी दृष्टिकोण से तैयार किया गया था। वास्तव में शिक्षा विभाग का संगठन प्रान्त की मालगुजारी प्रथा को दृष्टिगत रख कर किया गया था और माल तथा शासन विभाग के अधिकारियों को आदेश दिया गया था कि वे लोग शिक्षा प्रचार के कार्य को भी अपना कर्त्तव्य समझें। कलक्टरों को आदेश था कि वे समय-समय पर स्कूलों का निरीक्षण करें और योग्य अध्यापकों तथा परिश्रमी विद्यार्थियों को उचित पुरस्कार दे कर उन्हें उत्साह प्रदान करें।

इन शासनाधिकारियों ने शिक्षा प्रचार के सम्बन्ध में प्रयोगात्मक प्रयत्न करके अपनी सर्वदक्षता का एक और परिचय दिया। प्रसिद्ध हल्कापन्दी स्कूलों का आयोजन एक कलक्टर द्वारा ही किया गया था। कलक्टरों और तहसीलदारों द्वारा पठन पाठन के लिए पाठ्य पुस्तकें बराबर वितरित की जाती थीं और ऊँचे अफसर भी शिक्षा के सम्बन्ध में लाभप्रद सम्मति दिया करते थे। शासनाधिकारियों के पितृतुल्य व्यवहार का यह खासा प्रदर्शन था, लेकिन उनमें से अधिकांश इस योजना को केवल अच्छे मुंशी, योग्य पटवारी और कार्यदक्ष अमले प्राप्त करने का साधन मात्र समझते थे। इस प्रकार इस प्रान्त में शिक्षा को सरकारी नौकरी पाने का एक साधन समझने की प्रथा उसी समय से प्रारम्भ हो गया, और यह उसी रूप में आज भी हमारे सामने मौजूद है।

लेकिन एक बात तो निस्सन्देह है कि शासनाधिकारियों की सहायता बिना हमारे प्रान्त मे शिक्षा प्रचार इतना विकसित न हो पाता। क्योंकि जिन जिन स्थानों में स्थानीय युरोपियन अधिकारियों ने शिक्षा प्रचार में अपनी रुचि प्रकट नहीं की, वहाँ हल्काबन्दी स्कूलो का चला लेना कठिन कार्य हो गया। यद्यपि उच्च शासनाधिकारी सवसाधारण के शिक्षा प्रचार में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित करते थे, तथापि वे स्वभावत शिक्षा प्रचारको के दृष्टि कोण को अपने समक्ष रखने मे असमर्थ थ।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

मिस्टर रीड के सामने अनेक कठिनाइयाँ थी। जनता सरकार के उद्देश को यथार्थ रूप मे न समझ सकी थी। उस की ज्ञान शून्यता तो बड़ी थी ही, फिर सरकार की ओर से शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था ऐतिहासिक परम्परा तथा भारतीय राजनीति के विरुद्ध थी। इस प्रकार का शिक्षा प्रचार व्यक्तिगत जीवन तथा ग्राम सगठन में बहुत बड़ा सरकारी हस्तक्षेप था। ऐसी योजना, चाहे वह किसी समय पर प्रस्तावित की जाती, ग्रामीण जनता में एक विचित्र आशंका उत्पन्न किये बिना न रह सकती थी। कलक्टर साहब द्वारा अध्यापक अथवा विद्यार्थियों को वस्त्र, पुस्तक, और पुरस्कार आदि मिलने की बात तो जनता की समझ म आ सकती थी। प्राचीन शासक भी विद्या प्रचार के सरक्षक होते थे, किन्तु अँगरेजी सरकार ने तो सारे शिक्षा प्रचार को ही व्यवस्थित और केन्द्रीभूत करने के साथ-साथ व्यावहारिक बनाने

का भी काम अपने ऊपर उठा लिया था। इसलिए जब नियमित रूप से स्कूलों और विद्यार्थियों की नामावली तैयार की जाने लगी और इन्सपेक्टरों द्वारा उनका नियमित निरीक्षण होने लगा, तब तो उनके लिए एक बिल्कुल नवीन बात उत्पन्न हो गयी।

हमारे यहाँ के अध्यापकों को अब तक संरक्षकों की सरक्षता का अनुभव था, किन्तु अपने अध्यापन कार्य का टीका टिप्पणी करने वालों का कोई अनुभव न था। उन्हें अब तक विद्यार्थियों को वैयक्तिक रूप से शिक्षा प्रदान करने का अभ्यास था, लेकिन विद्यार्थियों की कक्षाओं को उन्होंने अब तक न पढ़ाया था। वे शिक्षक थे और अपना व्यक्तित्व रखते थे। अपनी मनचाही पद्धति से वे विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। परन्तु इस नवीन संगठन का आवश्यम्भावी परिणाम यह होना था कि उनकी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचे और उनका व्यक्तित्व एक ऐसे बड़े व्यवस्थित शिक्षा क्षेत्र में विलीन हो जाय, जहाँ वे केवल मशीन के एक पुर्जे के समान आवश्यक होते हुए भी नगण्य ही रहें। वे इस प्रकार के सङ्कलीकरण के लाभों का ठीक-ठीक निरूपण भी न कर सकते थे, किन्तु वे यह आसानी से अनुभव कर सकते थे कि इससे उनकी मान मर्यादा, प्रतिष्ठा गौरव, तथा स्वतन्त्रता आदि का ह्रास होता जा रहा था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उनमें से कुछ लोगों ने अज्ञात भय की कल्पना से लोगों को इन बातों के विरुद्ध बहकाना शुरू कर दिया।

उच्च जातियाँ और उनके भाव में परिवर्त्तन

इन सन्देहों के प्रभाव में आकर उच्च-जातियों के लोग भी इन अध्यापकों के साथी हो गये थे, इसीलिए आरम्भ में ये लोग सरकारी स्कूलों से बचते रहे। लेकिन धीरे धीरे उनका यह भय दूर होने लगा और गदर की घटना ने तो उनकी आँखें खोल दीं और फिर नवीन विचार धारा के आगे उनको नतमस्तक होना पड़ा। शिक्षित समाज ने, जिसमें कायस्थ, बनियें, खत्री, कश्मीरी और ब्राह्मण शामिल थे और जो सरकारी नौकरी से अपनी जीविका चलाते थे, नयी सरकार की भाँति नये स्कूलों की महत्ता चुपचाप स्वीकार कर ली और पुरानी परिपाटी की शिक्षा को त्याग कर वे नवीन प्रणाली की शिक्षा को मान्य समझने लगे। लेकिन जिनकी जीविका सरकारी नौकरी पर निर्भर नहीं थी अथवा जिन्हें अपनी मान-मर्यादा का अभिमान था, उन लोगों को इस नवीन शिक्षा से अभ्यस्त होने में बहुत समय लगा। जब इन्हें इसके बिना अपनी मान-मर्यादा तक नष्ट होती दिखायी देने लगी, तब भी ये इसकी ओर अग्रसर हुए। महाकवि अकबर का इन पंक्तियों से इनका यह भाव भली भाँति प्रकट होता है—

सडक पै माँग है कुलियों की और मटों की,
कचहरियों में माँग है अब ग्रेजुएटों की,
खराबी है तो शेखजी के नटा की।

जिस समय की आलोचना यहाँ पर की जा रही है, उस समय सरकारी-स्कूलों के प्रति धीरे धीरे जनता की धारणा

बदलने लगी थी। इस बीच में इतनी राजनीतिक जाग्रति हो गयी थी कि सन १८८६ ई० में जब इण्डियन नेशनल कांग्रेस का आयोजन हुआ, तो इस प्रान्त में भी उसके कट्टर विरोधियों और समर्थकों की कमी न थी।

राजनीतिक जाग्रति का प्रभाव शिक्षा पर भी आवश्यम्भावी था, लेकिन यह बात जरूर कहनी पड़ेगी कि अधिकांश लोगों का शिक्षा के प्रति प्रेम का अभिनय केवल रोटी कमाने के लिए ही था। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर एम० कम्पसन साहब ने इस प्रवृत्ति को पहले ही समझ लिया था और उनका यह कहना सत्य ही था कि देश की ऊंची जाति के लोग जिस शिक्षा के ग्रहण करने में इस समय अरुचि और असम्मति प्रकाशित करते हैं, उसी शिक्षा को ये लोग कुछ ही समय बाद सरकार से अधिकार रूप में मांगने लगेंगे। इस सम्बन्ध में उनका अभिप्राय विशेष कर शहरों में बसने वाले उच्च श्रेणी के लोगों और मुसलमानों से था।

शिक्षा-प्रचार पर इस परिस्थिति का प्रभाव

शिक्षा के प्रति भाव परिवर्तन के साथ ही साथ स्कूलों के प्रति भी लोगों के भाव बदल गये। वे देसी पाठशालाओं को तो अपनी चीज समझते थे, किन्तु नवीन पद्धति के स्कूल चूंकि 'सरकारी' कहलाते थे इसलिए उनके प्रति उनके हृदय में कोई महत्त्व न था। यह भी नवीन आयोजना का एक दोष था। शिक्षा-विभाग इतना अधिक केन्द्रित और व्यवस्थित कर दिया

गया था कि उसमें स्थानीय सार्वजनिक रुचियों के लिए स्थान ही न था। धीरे धीरे इसका दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के सम्बन्ध में जनता की रुचि नष्टप्राय हो गयी और वह अपनी शिक्षा के लिए भी सरकार पर उसी प्रकार निर्भर रहने की आदी बन गयी जितना कि पुलिस से रक्षा के लिए।

सरकार द्वारा शिक्षा प्रचार का एक और परिणाम हुआ जिसका अनुमान लोगों को न था। शुरू में इस शिक्षा विधि के आयोजन में पुरानी पद्धति के स्कूलों के ही आधार पर शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया था। उनमें उन्नति करके और उन्हें आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया था, किन्तु वस्तुतः इस आयोजना ने पुरानी पद्धति के स्कूलों के स्थान पर नयी पद्धति के स्कूल स्थापित करा दिये।

देसी भाषाओं के विरुद्ध भावना

टाड साहब को अन्य प्रकार की कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। इस नयी योजना में देसी भाषाओं के माध्यम द्वारा ही शिक्षा प्रचार का आयोजन किया गया था। किन्तु इन देसी भाषाओं में लोगों की रुचि नहीं थी। संस्कृत और फारसी ज्ञान का आगार और ज्ञातव्य विषयों का एकाकी माध्यम समझी जाती थीं। पढ़े-लिखे हिन्दू 'हिन्दी' को नीची दृष्टि से देखते और उसे 'भाषा' शब्द से सम्बोधित करते थे। इसी प्रकार मुसलमान लोग भी उर्दू को निकृष्ट और हीन समझते थे।

भाषा के महत्त्व को समझाना तथा उसके प्रति लोगों में रुचि पैदा करना, उस समय टेढ़ी खीर थी।

उर्दू हिन्दी के प्रचार के लिए उस समय हर प्रकार के उपाय किये गये; यहाँ तक कि सरकारी दबाव भी काम में लाया गया। जब एक बार भाषाओं का प्रचार शुरू हो गया, तो इनका विस्तार अपने आप होने लगा—यहाँ तक कि पिछली शताब्दी में इनके प्रचार का बड़ा भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। हिन्दू हिन्दी को और मुसलमान उर्दू को इस हद तक अपनाने लगे कि इस नयी प्रतिद्वन्द्विता में दोनों जातियों में वैमनस्य बढ़ने लगा। हिन्दी और उर्दू के प्रति पहले जो उपेक्षा दिखायी गयी थी उसके कारण स्कूलों में पढ़ायी जाने योग्य पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। इसके फल स्वरूप शिक्षा सञ्चालकों के सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गया। देसी भाषाओं के प्रति सार्वजनिक रुचि उत्पादन करने के अतिरिक्त शालोपयोगी-साहित्य की भी सृष्टि करने का भार उनके ऊपर आ पड़ा और यह कार्य सहल भी नहीं था।

तीन लिपियों से कठिनाइयाँ और शालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव

प्रचलित भाषाओं की समस्या को फारसी नागरी और कैथी लिपियों की उपस्थिति ने और भी अधिक जटिल बना दिया था। इनमें कैथी नागरी का अपरकृत और घसीट लिपि है जिसकी सृष्टि कायस्थों द्वारा हुई है। इसीलिए इसका नाम 'कैथी' पड़ा है। सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं के सहयोग से इसका प्रचार

बन्द करने का उद्योग किया गया। बनारस और आरा नागरी प्रचारिणी सभाओं ने विशेष रूप से तथा अन्य नगरों की सभाओं ने सामान्यतः बड़े उत्साह के साथ इस आन्दोलन को सहायता पहुँचायी। परन्तु नागरी और उर्दू लिपियों की समस्या ने जातीय वैमनस्य का रूप धारण कर लिया जिसमें सर सैयद अहमद खाँ ने उर्दू का और राजा शिवप्रसाद तथा बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी लिपि का पक्ष लिया। हिन्दी उर्दू लिपि का यह झगड़ा आज भी पहले के समान ही समस्यापूर्ण बना हुआ है।

योग्य अध्यापकों और इन्सपेक्टरों के अभाव की कठिनाइयाँ

इन सब समस्याओं के अतिरिक्त एक समस्या यह और थी कि इस समय योग्य अध्यापक तथा इन्सपेक्टर बड़ी कठिनाई से मिलते थे। इन्हीं लोगों की योग्यता पर इस योजना पद्धति की सफलता निर्भर थी, परन्तु इन्हीं का नितान्त अभाव था। जो लोग हाई स्कूलों या कालिजों में अँगरेजी शिक्षा पा चुके थे, उनकी उच्चाकांक्षायें भला ग्रामीण या तहसीली स्कूलों की मास्टरी से कैसे सन्तुष्ट हो सकती थीं? यह लोग ऐसी परिस्थिति में, जहाँ अधिक काम करने के अतिरिक्त नगर छोड़ कर गाँव में रहना पड़ता था और जिसके सम्पादन के लिए दृढ़ विश्वास और सलग्नता की आवश्यकता थी, भला क्यों रहना पसन्द करते? इसके अतिरिक्त गाँव वाले इनकी योग्यता से भयभीत होकर इन पर अपना विश्वास कैसे जमा सकते थे? इसीलिए यह लोग जहाँ कहीं गये भी, वहाँ इन्होंने अपने आप को अनुपयुक्त पाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित 'ग्राम पाठशाला नौकरी' के प्रहसन में गाँव की पाठशाला में इन अँगरेजी पढ़े अर्द्ध शिक्षित अध्यापकों की करुण स्थिति का बड़ा सजीव चित्र दिखलाया गया है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण पाठशालाओं के लिए जो अध्यापक उपलब्ध हो सकते थे, वे उसी पुरानी परिपाटी के पण्डित थे। परन्तु फिर भी यह तो प्रकट ही था कि ग्रामीण हिन्दी स्कूलों के अध्यापक बहुत कुछ अनभिज्ञ होने पर भी उद्धत स्वभाव के न होते थे। उन्हें अपनी कमी का बोध था और उसे दूर करने के लिए वे प्रस्तुत भी रहते थे। उनमें एक विशेषता यह भी थी कि वे अपने विद्यार्थियों के माता पिताओं से भली भाँति परिचित थे और इसलिए उनके श्रद्धा भाजन बने हुए थे। इधर यह नवीन शिक्षा प्रणाली पर्याप्त रूप में क्रान्तिकारी थी, इसलिए उस समय की अवस्था में अध्यापकों को भी एक दम बदल देना बुद्धिमानी का कार्य न था।

रीड साहब का कार्य

इस प्रकार रीड साहब के विजिटर जनरली के समय में यह आवश्यक हो गया था कि नवीन शिक्षा प्रणाली की नींव डालने के साथ ही साथ वे देसी पाठशालाओं की उन्नति में भी प्रोत्साहन दें, नये तहसीली स्कूल स्थापित करें तथा प्रान्तीय भाषाओं में शालोपयोगी साहित्य का निर्माण भी करायें। जिला और परगना के निरीक्षकों के पथ प्रदर्शन के लिए विस्तृत नियम बन ही चुके थे, इसलिए रीड साहब का अब इस प्रणाली का

आगरेश करना ही बाकी रह गया था। यह काम उन्होंने शीघ्र शुरू कर दिया।

शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति का भली भाँति मनन कर लेने के बाद उन्होंने तहसीली स्कूल स्थापित करना और देसी स्कूलों का निरीक्षण करना तथा उनको सम्पादन करना शुरू कर दिया। शीघ्र ही यह बात प्रकट हो गयी कि देसी पाठशालाओं के अध्यापक सरकार द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पढ़ाने तथा इन्सपेक्टरों के निरीक्षण के अन्यमनस्क नहीं थे और इसके लिए तैयार थे। समय-समय पर उन्हें पारितोषिक दिये जाने लगे थे और उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया था कि वे अपने विद्यार्थियों की तहसीली स्कूलों में निःशुल्क भरती कराने की सिफारिश कर सकें। यह सब सुविधाएँ होते हुए भी देसी पाठशालाओं की स्थिति डाँवाडोल थी। तो भी इनके लिए शिक्षकों का तैयार करना विफल नहीं था, क्योंकि जैसे ही कोई अध्यापक एक पाठशाला के बन्द हो जाने पर खाली हो जाता था, वैसे ही वह दूसरे गाँव में जाकर दूसरी पाठशाला खोल लेता था।

तहसीली स्कूल

यद्यपि इस नयी प्रणाली में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया था कि तहसीली स्कूल देसी पाठशालाओं के प्रतिद्वन्द्वी न बन जाँय, फिर भी शीघ्र ही ऐसे हल्कावन्दी स्कूल स्थापित होने लगे जो वास्तव में इन पाठशालाओं के प्रतिद्वन्द्वी थे। आरम्भ में हर तहसील में एक-एक तहसीली स्कूल आदर्श स्कूल के रूप में

स्थापित किया गया था। उसके लिए किसी परम्परा का प्रतिबन्ध भी नहीं था। जिन आठ जिलों में ऐसे स्कूल प्रयोगात्मक दृष्टि से स्थापित किये गये थे, उनकी उन्नति और वृद्धि के साथ साथ इस प्रणाली की उन्नति होती गयी और वे सारे प्रान्त में फैलने लगे।

इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल, ज्यामिटी, बीज गणित, दसी बहीखाता और हिसाब पैमाइश आदि विषय सम्मिलित थे। फारसी और प्राकृतिक विज्ञान के विषय बाद में पढ़ाये गये, परन्तु फिर शीघ्र ही हटा दिये गये। इन स्कूलों में अँगरेजी पढ़ाने के लिए भी चेष्टा की गयी थी, परन्तु इसे सरकार की ओर से प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि उनको आशंका थी कि यह स्कूल एक प्रकार के एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल बन जायँगे जो प्राय अनुपयुक्त और अयोग्य प्रमाणित होंगे। इस प्रकार आगे चल कर उन्हें उच्च वर्नाक्युलर स्कूलों का रूप देना अपेक्षित हुआ और १८७२ ई० में उनका नाम बदल कर वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल कर दिया गया।

इन स्कूलों को स्थापित हुए अधिक समय न हुआ था कि इनकी उपयोगिता और उपयुक्तता विदित होने लगी। १८६३ ई० में डाक्टर मुआट, जो शिक्षा कौन्सिल का मन्त्री था, इनकी उपयुक्तता से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने बिहार और बङ्गाल में भी इसी प्रकार के स्कूल खोलने की सिफारिश की। इसके बाद से इन स्कूलों की उपयोगिता प्रति वर्ष बढ़ती ही गयी

और १८८१ ई० में इनमें पढ़ने वाले लड़कों की संख्या १,४६१ से बढ़ कर १८८४ ई० में ४,६८८ हो गयी।

यह उन्नति भी सम्बन्धोनुगा था। शिक्षण-विधि में बराबर उन्नति हो रही थी और वह क्रमशः उच्चस्थान प्राप्त करती जा रही थी। साथ ही पाठ्यक्रम के विषय भी बढ़ते जा रहे थे और देसी पाठशालाओं की अपेक्षा अब इनमें लड़के अधिक समय तक ठहरने भी लगे थे। परन्तु लड़कों की संख्या वृद्धि का यह आशय नहीं था कि इन स्कूलों में देसी पाठशालाओं की अपेक्षा किसी दूसरी प्रकार के भी विद्यार्थी आकर्षित होने लगे थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और कायस्थ विद्यार्थी ही इनमें अधिक थे। मुसलमान बहुत धीरे धीरे आने लगे थे और थोड़े समय बाद उनकी संख्या में भी खूब उन्नति होने लगी। जिन स्कूलों में फ़ारसी और उर्दू पढ़ायी जाती थी, उनमें तो मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त आने लगी थी। इन स्कूलों में हिन्दुओं की ५८ जातियों और उपजातियों के लड़के पढ़ने आते थे लेकिन फिर भी शिक्षित जातियों के लड़कों की संख्या ही बहुत अधिक थी।

इन स्कूलों में विद्यार्थियों से फ़ीस ली जाती थी और देसी पाठशालाओं के वही लड़के इनमें बिना शुल्क भरती किये जा सकते थे, जिनके अध्यापकों ने निरीक्षक की हैसियत से उनकी सिफ़ारिश की हो। प्रारम्भिक योजना में सब लड़कों से उनके माता-पिता की आय के अनुसार फ़ीस लेना निश्चित किया गया था, परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त के अनुसार हर असमान परिस्थिति

का समाधान करना असम्भव हो गया और इसलिए हर लड़के से दो आने माहवारी फ़ीस निश्चित कर दी गयी। आज-कल यह फ़ीस बहुत थोड़ी मालूम पड़ती है, परन्तु उस समय की आर्थिक स्थिति के विचार से इस का वास्तविक मूल्य जानने के लिए इसे कम से कम पाँच गुना करना पड़ेगा।

परन्तु यह फ़ीस देना भी गरीब गाँव वालों के लिए भार हो गया था। वे तो हर महीने फ़ीस न देकर केवल फसल के समय और वह भी अन्न देकर इसका चुकता कर सकते थे। फल यह हुआ कि फ़ीस समय पर वसूल न होती थी और बहुत से लड़कों पर बक़ाया निकली रहती थी। सैकड़ों लड़कों से तो केवल एक ही आना लेकर छोड़ दिया जाता था। अधिकांश लोगों की यह धारणा थी कि अपने लड़कों को स्कूल में पढ़ने भेज कर वे सरकार अथवा उसके अफ़सरों पर एक प्रकार का अनुग्रह कर रहे हैं और इसलिए उनसे किसी प्रकार की फ़ीस न ली जानी चाहिए। परन्तु धीरे धीरे फ़ीस वसूल करने में कड़ाई से काम लिया जाने लगा और फ़ीस न देने पर स्कूलों से नाम काट देने के नियम बन जाने पर, बक़ाया रखने वालों अथवा फ़ीस न देने वालों की संख्या में कमी हो गयी।

जिन अध्यापकों का १०) रु० से लेकर २०) रु० तक मासिक वेतन मिलता था वे अपने विद्यार्थियों से वसूल की हुई फ़ीस भी ले लेते थे। बाद में इसी फ़ीस में से नायब और मानीटर का वेतन तथा लिखने-पढ़ने के सामान का खर्च काट

कर बाक़ी रक़म अध्यापक को ही पारितोषिक के रूप में मिलने लगी। १८६७ ई० में इन स्कूलों का खर्च इतना बढ़ गया था कि उसे पूरा करने के लिए फ़ीस की सारी रक़म लेना आवश्यक हो गया और इसलिए यह घोषणा कर दी गयी कि फ़ीस सरकारी सम्पत्ति है और वह नियमानुसार निरन्तर सरकारी खज़ाने में जमा हो जानी चाहिए।

आगे चल कर इन स्कूलों में और भी अधिक परिवर्तन और सुधार किये गये। पहले इन स्कूलों में सात कक्षाएँ थीं जो बहुत अधिक होने के कारण तोड़ कर चार कर दी गयीं और अब इनमें भरती होने वाले विद्यार्थियों से पहले से अधिक ऊँची योग्यता अपेक्षित हुई। १८७७ ई० में सारे प्रान्त के मिडिल स्कूलों के लिए एक सरकारी परीक्षा का चलन हो गया। इससे सारे प्रान्त में शिक्षा की उन्नति की तुलना और सब जगह समान प्रामाणिकता प्राप्त करने की सुविधा हो गया। पहली परीक्षा की उत्तरदायिता देख कर डाइरेक्टर महाशय को बहुत कुछ सान्त्वना हुई और इतिहास, भूगोल, गणित और भाषा में लड़कों की योग्यता सन्तोषजनक प्रमाणित हुई। इस परीक्षा से यह भी स्पष्ट हो गया कि अभी मातृभाषा के अध्ययन में काफ़ी उन्नति नहीं हो रही थी। इन स्कूलों में एक भारी कमी यह थी कि उनमें किसी प्रकार के हस्त-कौशल सिखाने का कोई प्रबन्ध न था और रुड़की इंजिनियरिंग कालिज में गाँवों के लड़कों की ड्राइंग की योग्यता देखकर, अधिकारियों ने सहारनपुर ज़िले के स्कूलों में, प्रयोग करने

क विचार से, ड्राइङ्ग का विषय सिखाने के लिए विशेष योजना कर दी । परन्तु यह विषय प्रान्त के सब स्कूलों म जारी न हो सका ।

प्रत्यक तहसील म ये माडल स्कूल आदर्श रूप स खोले गय थ और यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब अंशों मे अच्छे हो गय थ, परन्तु विद्यार्थी-जीवन की अवधि बढ़ जाने से सारे प्रान्त के बालकों का जीवन अधिक सुखमय अवश्य हो गया था। फिर इनमे पढ़न वाले विद्यार्थियों क लिए सांसारिक जीवन की व्यग्रता कुछ काल के लिए तो अवश्य ही स्थगित सी हो गया थी। साथ ही अब बालकों का अपने मानसिक विकास क साधन भी अधिक उपलब्ध हो गय थ। इस पर भी अगर व अपन दैनिक जीवन मे इनका उपयोग नहीं कर सकते थ, तो इसके लिए स्कूलो को कोई दोष नहीं दिया जा सकता था।

लोगों में यह धारणा उत्पन्न हो चली थी कि यह शिक्षा सरकारी नौकरियों का प्राप्ति क लिए बड़ा अच्छा साधन है। यह उन लोगो की भूलों क कारण था, जिन्होन अप्राकृतिक साधनो द्वारा बहुत शीघ्र ही विद्याप्रचार करना चाहा था अथवा जिन्होन ट्रेनिङ्ग प्राप्त अध्यापक अधिक और शीघ्र मिलन क विचार से शिक्षा क प्रति लोगों क भाव बदल दिय थे। जिन लोगो का शिक्षा सम्बन्धी आदर्श बहुत ही ऊँचा था, व भी इन स्कूलों स थोड़े बहुत लाभ की आशा अवश्य करन लगे थ और इनकी सफलता देख कर एक समालोचक को यह कहने का साहस

हुआ था कि अगर जनता के नैतिक लाभ के विचार से ही देखा जाय तो देसी स्कूलों को बन्द कर और उन में प्रचलित पुस्तकों का प्रचार रोक कर, सरकार ने बहुत ही थोड़े व्यय से प्रजा के लाभ के साधन उपस्थित कर दिये हैं। इस समय निरीक्षण के खर्च को छोड़ कर हर बालक की शिक्षा पर केवल २॥) रु० वार्षिक व्यय का औसत निकलता था।

देसी पाठशालाओं के बन्द कर देने में जन-साधारण का नैतिक लाभ रहा हो या नहीं, किन्तु विद्या प्रचारक की दृष्टि से यह निश्चय है कि शिक्षा क्रम में पहले की अपेक्षा अब बहुत कुछ उन्नति हो गयी थी। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह हुई कि आरम्भ से ही इन स्कूलों की शिक्षा संकीर्ण हो कर केवल पुस्तकों तक ही सीमित हो गयी। विद्यार्थियों को पुस्तकों के विषय के अतिरिक्त बाहर की कोई बात नहीं सिखायी जाती थी। इससे उनमें अपने आस पास की बातें जानने तक की उत्सुकता नष्ट होने लगी थी। इसीलिए इन स्कूलों का वातावरण कृत्रिम हो गया था।

एक समालोचक ने लिखा था कि इन स्कूलों में पाठ पढ़ाते समय बहुधा ऐसे स्थानों के नाम आ जाते हैं, अथवा ऐसे पुरुषों का प्रसंग आ जाता है, जिनके सम्बन्ध में अगर विद्वान् अध्यापक कुछ विशेष बातें बता कर बालकों की ज्ञान-वृद्धि करा दें तो इससे उनको अनेक उपयोगी बातें मालूम हो जाने का सुअवसर प्राप्त हो जाय तथा उन्हें अपने पाठ में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो जाय। किन्तु इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

उनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता न तो विद्यार्थियों में ही देखी जाती थी, और न अध्यापकों में ही उन्हें प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति रह गयी थी। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अथवा विद्यार्थियों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे पाठ्य विषय में कोई उत्साह प्रदर्शित करें। परिणाम यह हुआ कि अनेक भावपूर्ण विषयों और रोचक स्थानों की जानकारी भी नीरस, निस्तेज और ऐसे कृत्रिम ढङ्ग से कराई जाने लगी कि स्कूल का सारा वातावरण, अत्यन्त चहल पहल का होने पर भी, निराशा निरुत्साह का परिचायक हो गया। ऐसी शिक्षा का, जिसका जीवन की प्रगतियों से कोई सम्बन्ध न हो, यह परिणाम अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त बिलकुल किताबी शिक्षा होने के कारण किताबों ही में चिपके रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था। परन्तु शिक्षा प्रणाली के दोषपूर्ण होने के साथ साथ उपयुक्त अध्यापकों की कमी भी कुछ अंशों तक इसके लिए जिम्मेदार थी।

हलकाबन्दी स्कूल

यह्मीली स्कूल तो केवल आदर्श मात्र बनाये गये थे। अविद्या के अन्धकार को मिटाने का वास्तविक काम तो गाँवों के देसी मदरसों में ही सकता था और टॉमसन साहब की भी यही योजना थी कि इन्हीं मदरसों की दशा, उनका निरीक्षण कर या उन्हें यदा-कदा सम्मति और पारितोषिक आदि देकर, सुधारी जाय। लेकिन सन् १८५१ में एक नयी योजना प्रयोग में लायी

गयी, जिसने देसी स्कूलों का सदा के लिए भाग्य निर्णय कर दिया। दसी स्कूलों म सुधार की आशा असम्भव समझ कर मथुरा के कलक्टर एलेक्जेण्डर साहब ने नये स्कूल खोलना निश्चित किया। लेकिन गाँव-गाँव मे स्कूल खोलना भी तो असम्भव था। इसलिए गाँवों की हलकाबन्दी करके, हर एक हलक मे पढ़न वाले लड़कों की सख्या निश्चित की गयी। फिर उस हलके की जमाबन्दी का भी निश्चय किया गया और उसके आधार पर उसम रहनेवालों की आर्थिक स्थिति और उनमे शुल्क दन की शक्ति का अनुमान कर लिया गया।

इन स्कूलों मे लड़कों क अभिभावकों पर शिक्षा का बोझ न रखन की व्यवस्था की गयी थी। जमींदार स्कूलों के खर्च का कुछ अश देने के लिए सहमत थे। चन्दा देने के समय उनके सामन "हैसियत" की बात रखी जाती थी। इसलिए उनसे कहा गया कि व अपनी अपनी मालगुजारी पर एक रुपया सैकड़ा के हिसाब से स्कूलों क मद में चन्दा दें। लेकिन यह चन्दा अनिवार्य न था और इसका देना बिलकुल लोगों की इच्छा पर निर्भर था। इस प्रकार जब स्कूल चलान क खर्च का पूरा प्रबन्ध हो गया, तब ऐस गाव म स्कूल खोला गया, जहाँ उस हलक क सभी गाँवा के लड़कों को स्कूल पास पड़ सक और जहाँ वे लाग नि शुल्क विद्या-लाभ कर सकें। स्कूल क खर्च क लिए सब मिला कर जितना रुपया जमीन्दारों स चन्दे के रूप में वसूल होता था, उतना ही सरकार भी देती थी। सबसे पहले हलकाबन्दी स्कूल परगना

कोसी में मीर इमदादअली की अध्यक्षता में खोला गया था। मथुरा में इस योजना को बड़ी सफलता मिली और अधिकारियों को भी यह योजना बहुत पसन्द आयी, क्योंकि इसमें विशेषतया जनता ही का उद्योग था। कदाचित् दूसरा कारण यह भी था कि इनकी बागडोर पूरी तरह से सरकारी अधिकारियों के ही हाथ में था।

मथुरा में इनकी सफलता देख कर पास के जिलों के कलक्टरों को भी यह योजना रुचिकर प्रतीत हुई और केवल आठ जिलों में ही नहीं, प्रत्युत प्रान्त के अन्य जिलों में भी हलकाबन्दी स्कूल खोले जाने लगे और इस प्रकार इनका प्रचार बड़ी वेग के साथ बढ़ने लगा। एक इटावा जिले में ही १८१ स्कूल एक वर्ष के भीतर खुल गये, जिनमें ५,१८८ विद्यार्थी विद्या लाभ करते थे। इन स्कूलों में पढ़ना लिखना, गणित पैमाइश, और भूगोल के विषय पढ़ाये जाते थे। प्रारम्भ में योग्यता की दृष्टि से इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। ए० ओ० ह्यूम साहब ने सन् १८५९ में लिखा था, "ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम है जो थोड़ी बहुत हिन्दी पढ़ लिख लेते हों और सादे सवाल हल कर सकते हों। यह बात सत्य है कि कुछ लड़के ऐसे हैं जो अच्छी तरह से हिन्दी अथवा उर्दू लिख पढ़ लेते हैं, परन्तु इनका औसत सैकड़े पीछे केवल दस ही समझना चाहिए।"

इन हलकाबन्दी स्कूलों से जो लाभ हुआ, वह इस प्रकार प्रकट किया गया है—"इन स्कूलों में पढ़ने के कारण लड़कों को शरारत का मौका नहीं मिलता और कम से कम उन्हें अच्छी

किताबें पढ़ने को तो मिल ही जाती हैं। बस इससे अधिक इन स्कूलों से कोई और लाभ नहीं है।" शिक्षा की वृद्धि से कम लाभ होने का एक कारण (योग्य शिक्षकों की कमी के बावजूद) यह भी था कि लड़के स्कूलों में पर्याप्त काल तक नहीं रह पाते थे और इसलिए उनकी योग्यता भी अधिक न हो पाती थी।

सन् १८६६-६७ में हलका नं० १ के स्कूलों में प्रवेश पाने वाले ७७,१५१ लड़कों में से केवल ४,४२७ लड़के ही ऊँची श्रेणियों में पढ़ते थे। कारण यह था कि निर्धन कृषक अपने बालकों को अधिक समय तक स्कूलों में बैठा कर आर्थिक हानि नहीं सह सकते थे। जिस आयु में वे स्कूल आने योग्य होते थे, उसी में वे खेतों पर भी काम करने योग्य हो जाते थे। इसलिए उनके पास स्कूलों में जाने का केवल वही समय था, जब कि उनके लिए खेतों में कोई काम रह जाय। इस परिस्थिति में उनमें विशेष योग्यता की आशा करना व्यर्थ था। यदि सरकारी सहायता और सहयोग न होता, तो ये हलकाबन्दी स्कूल भी पुराने मदरसों की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाते। अर्नुअनाट साहब ने इस बात को स्वीकार किया था कि जहाँ युरोपियन अधिकारियों ने इन स्कूलों के प्रबन्ध में कोई हिस्सा नहीं लिया, वहाँ उनका चलना बहुत मुश्किल हो गया।

देसी मदरसों की अवनति

हलकाबन्दी स्कूल देसी मदरसों के प्रतिद्वन्द्वी थे और इनकी प्रतियोगिता का प्रभाव हानिकारक भी हुआ। देसी मदरसे

शिक्षा विभाग के बनाये नहीं थे और न इस विभाग का आतङ्क ही इन मदरसों पर अधिक था। इसलिए शिक्षा विभाग इन मदरसों पर ध्यान नहीं देता था और इनको व्यर्थ समझता था। सन् १८७७-७८ तक तो इन देसी मदरसों के ब्यौरे शिक्षा विभाग के वार्षिक विवरणों में स्थान पा जाते थे, परन्तु इसके बाद इनका देना इस विचार से बन्द कर दिया गया कि वह विश्वसनीय नहीं समझे जाते थे और इन स्कूलों पर सरकारी निरीक्षण भी नहीं था। हलकाबन्दी सरकारी स्कूलों के खुल जाने से जो प्रोत्साहन उन्हें पहले दिया जाता था, वह भी अब बन्द हो गया। सन् १८५७-५८ में ही शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने उनके सम्बन्ध में लिखा था, 'ये पाठशालाएँ तो शिक्षालय कहलाने के सर्वथा अयोग्य हैं। इन सब में सुधार की आशा रखना व्यर्थ है। इनमें पढ़ाने वाले अध्यापक भी तो किसी प्रकार हमारे अधीन नहीं हैं।' परन्तु इतना होते हुए भी लोग इन मदरसों को ही पसन्द करते थे और उन्हें अपनाते थे।

इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए डाइरेक्टर महोदय लिखते हैं, "हमारे कृपक इस विभाग द्वारा सञ्चालित स्कूलों के लिए १,९०,००० रुपये प्रति वर्ष व्यय करते हैं। अन्य लोकप्रिय स्कूलों को परिचालित रखने में २,६५,००० रुपया वार्षिक व्यय होता है। इतना अधिक खर्च वास्तव में व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि इनके अध्यापक अयोग्य हैं और इनमें किसी प्रकार की आयोजना और शिक्षा क्रम का अभाव है।"

लोग नये सरकारी स्कूलों में अधिक जाने लगे थे क्योंकि उनमें शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। देसी स्कूलों की भी अब इतनी पूछ न रही थी और अधिक खर्चीले होने के कारण लोग उनको उपेक्षा की दृष्टि से भी देखने लगे थे। शिक्षा-विभाग की ओर से पढ़ाने लिखाने के सम्बन्ध में लोगों को सभी जानने योग्य बातें बतायी जाती थीं। इसलिए इन नये और निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूलों की ओर ही बालक अधिक झुकने लगे थे।

देसी मदरसों की अवनति का एक और कारण भी था। उनके सब योग्य अध्यापक उन्हें छोड़ कर सरकारी स्कूलों में इसलिए पहुँच गये थे कि उन्हें वहाँ वेतन अच्छा मिलता था। सन् १८८२ में शिक्षा कमीशन के सामने रा० सी० नरसान्ड साहब ने अपनी गवाही देते हुए खुले शब्दों में यह स्वीकार किया था कि 'सरकारी शिक्षा-विभाग ने अच्छे से अच्छे देसी मदरसे तो कभी के हड़प कर लिये और अब वे इतने निर्बल कर दिये गये हैं कि जब तक समस्त सरकारी स्कूल बन्द न कर दिये जाँय, तब तक इन्हें सहायता देने अथवा उनकी उन्नति करने का दावा करना व्यर्थ ही होगा। मेरे विचार में सरकारी शिक्षाक्रम ने इन्हें बिलकुल निकम्मा कर दिया है और अब उनके जीर्णोद्धार की कोई आशा नहीं की जा सकती।'

देसी स्कूलों की अवनति इसलिए हुई थी कि एक तो लोग गरीबी के कारण दो प्रकार के स्कूलों का भार वहन करने में असमर्थ थे, दूसरे ये मदरसे स्वयम् इस नयी परिवर्तित परिस्थिति

के अनुसार अपने क्रम मे समयोचित परिवर्तन न कर सके, तीसरे इसलिए भी कि सरकार द्वारा प्रोत्साहित और प्रतिष्ठापित इस नये शिक्षाक्रम के सामने लोगों की निगाह में इनका कोई कदर न रह गयी थी। फिर भी डाक्टर जी० डब्लू लिटनर के इन शब्दों में बहुत कुछ तथ्य है —"थोड़े से नवीन स्कूल खोलने की अपेक्षा यदि सरकार देसी मदरसों की पाठ्य पुस्तकों तथा अध्यापकों के सुधार की ओर ध्यान देती और इस प्रकार जनता में यह भाव फैलाने का प्रयत्न करती कि शिक्षा प्रसार की देख रेख रखना सरकार का काम है (और किसी समाज विशेष का नहीं), तो उन्हें नवीन स्कूलों के इस अधूरेपन के स्थान पर देसी स्कूलों में सुधार करने का बहुत बड़ा सुअवसर प्राप्त हो जाता।"

सन् १८५४ का खरीता

बङ्गाल तथा बिहार में एडम साहब की जाँच, मदरास में सर टॉमस मनरो के अनुसन्धान और बम्बई में सर मन्टस्टुअर्ट एलफिन्स्टन के दिग्दर्शनात्मक विवरण से शिक्षा प्रचार की अवस्था गिरती हुई प्रकट हुई। हमारे यहाँ तो सन् १८४४ ४५ में टामसन साहब के विवरण से देसी मदरसों की गिरती हुई अवस्था अच्छी तरह प्रकट हो गयी थी। इसी समय देसी मदरसों की खराब परिस्थिति के सम्बन्ध में मिशिनरियों ने ऐसा आन्दोलन किया कि अधिकारियों के कान खड़े हो गये। सरकार को जनता में शिक्षा प्रचार करने की आवश्यकता प्रतीत तो हुई, परन्तु सारी जनता को शिक्षित बनाने के लिए एक साथ विद्यालय

खोलना उसके लिए सम्भव न था। इन विभिन्न प्रान्तों में शिक्षा-सम्बन्धी अनुसन्धानों का सारांश सन् १८५४ के प्रसिद्ध खरीते में अङ्कित कर दिया गया है। खरीते के लेखक सर चार्ल्स वुड पिछले वाइसराय लार्ड इरविन के दादा थे।

इस खरीते ने प्रजा में ज्ञानोत्कर्ष की शुभाकांक्षा उत्पन्न कर दी थी, इसीलिए यह खरीता भारत में अंग्रेजी शिक्षा का 'स्वाधीनता का शासन-पत्र' कहलाने योग्य है। उदार भावों से ओत प्रोत लार्ड डलहौजी के शब्दों में 'इसमें ऐसी योजना का निरूपण किया गया है, जो अखिल भारत के निमित्त तैयार की गयी थी और जिसे प्रस्तुत करने के लिए प्रान्तीय या भारतीय सरकारें कदाचित् ही साहस कर पातीं।' टॉमसन साहब की प्रतिभा की झलक इस खरीते में भी दिखायी पड़ती है। सारी प्रजा में—विशेषतः प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार के लिए—सरकार का ध्यान ऊँची जातियों की ही शिक्षा की ओर से हटा कर जन साधारण की शिक्षा की ओर आकर्षित करना, इसका चरम उद्देश था। इस नीति का समर्थन खरीते के इन शब्दों में किया गया था, 'ऐसी विशाल जनता में, जो बिना किसी सहायता के नाम मात्र की भी विद्या प्राप्त करने में असमर्थ है, किस प्रकार ऐसी व्यावहारिक और उपयोगी शिक्षा का प्रचार किया जाय जो उसके जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए उपयोगी और अनुकूल सिद्ध हो।'

खरीते में लिखा था कि ब्रिटिश सरकार यह चाहती है कि भविष्य में इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, उनकी यह योजना

विशेष रूप से काम में लायी जाय और वे इसके व्यय के लिए अधिकाधिक धन देने के पक्ष में हैं।

इस योजना का उद्देश्य अविद्या को समूल विनाश करने का था और साधारण जनता में विद्या प्रचार का महत्त्व इसमें स्वीकार कर लिया गया था। जनता को इसमें अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित करने की सिफारिश भी की गयी थी। सरकार की ओर से देसी स्कूलों की सहायता करने का विधान था। इसमें देसी भाषाओं का भी बहिष्कार न किया गया था और संस्कृत तथा फारसी के तत्कालीन विद्यालयों की रक्षा का भी उचित समावेश था। इसमें प्रत्येक प्रान्त में एक एक शिक्षा विभाग खोलने की मांग पेश की गयी थी और देशी भाषा में प्रारम्भिक शिक्षा से लगा कर युनिवर्सिटी की बड़ी से बड़ी डिगरी तक की योजना प्रस्तुत की गयी थी। इस खरीते में धार्मिक विचारों के प्रति बिलकुल तटस्थ रहने की नीति रक्खी गयी थी।

शिक्षा-विभाग की स्थापना

इस खरीते के पहुँचने पर पश्चिमोत्तरी प्रान्त में शिक्षा विभाग की स्थापना हुई और रीड साहब उसके प्रथम डाइरेक्टर बनाये गये। उनकी अधीनता में चार सर्किल इन्सपेक्टर नियुक्त किये गये और ज़िले तथा परगने के विज़िटर डिप्टी तथा सब-डिप्टी इन्सपेक्टर कहलाने लगे। उस समय के बाबू शिवप्रसाद, जो बाद को राजा हो गये, इन्हीं पहले इन्सपेक्टरों में से थे। गदर होने से कुछ ही पहले स्कूलों को सरकारी मदद देने के

नियम बनाये गये, जिनसे तहसीली और हलकाबन्दी स्कूलों को अधिक प्रोत्साहन मिला। १८६६ ई० म टॉमसन साहब की मृत्यु के एक मास बाद ही, उनकी योजना को सारे प्रान्त में प्रसार करने की अनुमति मिल गयी।

हलकाबन्दी स्कूलों की उन्नति के इस विवरण से प्रान्त में प्राइमरी शिक्षा के अधिकाधिक विस्तार का परिचय मिलता है। सन् १८५१ म इन हलकाबन्दी स्कूलों की स्थापना हुई थी और सन् १८५४ ई० म इनकी सख्या ७५८ हो गयी। इनम पढ़ने वाले छात्रों की सख्या उस समय १७,००० थी। सन् १८५५ ई० के प्रारम्भ म हलकाबन्दी स्कूलों की सख्या १,४९१ हो गयी और इनम पढ़ने वाले छात्रों की भी सख्या बढ़ कर ३४,४२४ हो गयी।

सन् १८५७ ई० मे आगरे का नार्मल स्कूल खोला गया। अध्यापकों की मॉग अधिक होने से सन् १८५६ ई० म मेरठ में और सन् १८५७ ई० बनारस म भी नार्मल स्कूल खोले गये।

गदर का दुष्प्रभाव

'तरीते' की योजना के अनुसार कार्य-क्रम को प्रारम्भ हुए अभी तीन वर्ष ही बीतने पाये थे कि गदर हो जाने के कारण शिक्षा प्रचार की उन्नति को भारी धक्का पहुँचा। लेकिन यह एक क्षणिक बाधा थी। कई अधिकारियों को इस विभीषिका मे अपने प्राण गॅवाने पड़े, किन्तु प्राय नीचे से लगा कर ऊपर तक के सभी शिक्षा विभाग के कर्मचारी राजभक्त बने रहे और अपनी अपनी जगह पर काम करते रहे। ओरियन्टल (फारसी) विभाग

के कुछ अध्यापक अवश्य बागी हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन विभागों पर से सरकार का विश्वास उठ गया और अन्तत ये विभाग बन्द ही कर दिये गये। इस प्रकार पञ्जाब की भाँति अंग्रेजी क समकक्ष रूप में, प्राइमरी स लेकर युनिवर्सिटी कक्षाओं तक देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा क्रम की उन्नति की सम्भावना बिलकुल जाती रही। हमारे यहाँ तो तहसीली स्कूल ही एक एसी संस्था रह गय, जिनम देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा ऊँची से ऊंची शिक्षा दी जा सकती थी।

सन् ५७ का गदर उस समय के मृतप्राय राज्यों की बुझती हुई अन्तिम ज्योति क समान था। इन राज्यों न अपनी खोयी हुई शक्ति को पुन प्राप्त करने के उद्देश्य से जी तोड़ कर यह अन्तिम प्रयत्न किया था। इसम उस असन्तोष की लहर से भी कुछ सहायता मिल गयी थी, जिसकी जिम्मेदारी कुछ अंश में सरकार पर भी थी। किन्तु अन्त में इस भयानक घटना से एक अच्छी बात यह हुई कि सदा के लिए देश के भविष्य का निर्णय हो गया। लोगों को इसका पूरा पूरा अनुभव हो गया और उनमें अन्तरध्ययन की प्रेरणा जाग उठी। अन्त में वे लोग भी, जो इस नये राजनीतिक परिवर्तन से यत्किंचित असन्तुष्ट थे, यह विचार करके कि अन्यथा गति नास्ति, अनिवार्य के सामने नतमस्तक हो गये। सहज विश्वासी लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अब सौ वर्ष पहले कोई नया परिवर्तन न होगा और वे उदीयमान सूर्य को अभिवादन करने क लिए व्याकुल हो उठे।

इन लोगों में एक किम्वदन्ति प्रसिद्ध हो गयी थी कि जिस प्रकार १७५७ ई० के पलासी-युद्ध के बाद १८५७ ई० में गदर हुआ, उसी प्रकार १९५७ ई० में बड़े भारी क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावना है। गदर के बाद एक दो वर्ष तो, हथियार छीन जाने के कारण, लोग रुष्ट थे, लेकिन इसके बाद से शिक्षा विभाग का पथ बिलकुल निष्कण्टक हो गया और असहयोग के समय तक ऐसा ही रहा।

सन् १८५९ का द्वितीय खरीता

लेकिन सन् १८५६-५७ ई० की घटनाओं को लेकर इस नवीन शिक्षा-क्रम के सम्बन्ध में व्यर्थ की अनेक भयास्पद बातें फैलायी गयीं। जिन लोगों ने सन् १८५४ के खरीते के सिद्धान्तों के विरुद्ध अपनी सम्मति दी थी, उन्होंने अब गदर के होने का दोषारोपण भी इस शिक्षा-क्रम पर लाद दिया। फलतः विलायत की सरकार ने खरीते के कार्यक्रम की अच्छी तरह से छानबीन की। यह इसलिए थी कि जनता में हाल ही में प्रयुक्त होने वाले जो विधान सरकार ने प्रस्तुत किये थे, उन्हें बङ्गाल के सैनिक-विद्रोह का कारण समझा गया था। ब्रिटिश शासनाधीन अन्य भारतीय विभागों में भी भय और शङ्का के जो भाव मौजूद थे, वह भी इसी के कारण समझे गये थे।

इस छानबीन के बाद सन् १८५९ में एक दूसरा खरीता प्रकाशित किया गया। इसमें पिछले खरीते के काम की आलोचना की गयी थी और उपरोक्त भ्रमपूर्ण अभियोग को गलत ठहराया

गया था। इस खरीते में भी १८५४ ई० के खरीते के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का पोषण किया गया था। इसमें एक नयी बात यह थी कि प्राइमरी शिक्षा के प्रचार में सरकारी सहायता की सिफारिश का समर्थन नहीं किया गया था। क्योंकि इसके द्वारा निर्धन लोगों पर आर्थिक बोझ अधिक हो जाता था। इससे शिक्षा के प्रति विरोधात्मक भावों के फैलने का भय था और यह भी आशङ्का थी कि ऐसा करने से कहीं सरकार बदनाम न हो जाय। सरकार की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी इसमें निहित था। इसमें सन्देह नहीं कि जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार इतनी उत्सुक थी, उसी के लिए सरकारी कर्मचारियों का साग्रह चन्दा माँगना और उस प्रयत्न में असफल होना सरकार के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाने वाला था। इसी अभिप्राय से सरकारी अधिकारियों द्वारा प्राइमरी शिक्षा प्रचार करने की व्यवस्था की गयी थी और उसके व्यय के लिए एक प्रकार का टैक्स लगाने की सिफारिश की गयी थी।

शिक्षा कर

तहसीली स्कूलों का व्यय निर्वाह तो प्रान्तीय सरकार की मालगुजारी से ही होता था, लेकिन हलकाबन्दी स्कूलों का खर्च हलके में एकत्र किये हुए शिक्षा कर द्वारा चलता था। टॉमसन साहब ने गाँव के स्कूलों के खर्च के लिए गाँव गाँव में जागीर दिलाने की सिफारिश की थी, लेकिन यह बात विलायत की सरकार को मंजूर न थी। जब हलकाबन्दी क्रम का श्रीगणेश किया गया,

तब जमींदारों ने अपनी मालगुजारी में से एक रुपया की सैकड़े के हिसाब से हलकाबन्दी स्कूलों के खर्चे के लिए चन्दा देना स्वीकार किया।

शिक्षा-कर का पूर्व रूप

सन् १८५० में सरकार ने भी इन ग्रामीण पाठशालाओं के खर्च में जमींदारों द्वारा एकत्र की हुई रक़म के बराबर धन देना अङ्गीकार किया। ग्रामीण शिक्षा के व्यय में जमींदार और सरकार का आधा साझा हमारे प्रान्त के सिवा कहीं न था। सहारनपुर के बन्दोबस्त की योजना में इसके निर्देश के लिए नियम बना दिये गये थे। इन नियमों द्वारा यह निश्चित किया गया था कि जमीन की पैदावार की क़ीमत का अधिक से अधिक ५० की सदी भाग सरकारी मालगुजारी में लिया जाना चाहिए। लेकिन सरकारी मालगुजारी निश्चित करने के पूर्व ही शिक्षा-कर काट लेने की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार शिक्षा का भार जमींदार और सरकार पर बराबर बराबर हो जाता था। कहने को तो यह शिक्षा कर जमींदार की इच्छा पर निर्भर था, लेकिन व्यवहार में इसे अदा करना सब के लिए अनिवार्य था। परन्तु इस शिक्षा कर की वसूलयाबी अनिश्चित था और प्रान्तीय लाट मिस्टर एडमन्स्टन साहब ने यह व्यवस्था दी थी कि जिन लोगों पर शिक्षा-कर बकाया रह गया था, उनसे उसकी जबर्दस्ती वसूली अनियमित थी।

कुछ अन्य कारण ऐसे भी थे, जिनसे पहले तो इस विचार में कुछ परिवर्तन हुआ कि शिक्षा-कर का देना लोगों की इच्छा पर निर्भर था, परन्तु बाद में इस कल्पना का पूरा विस्फोटन हो गया। सन् १८५० के खरीते में प्रारम्भिक शिक्षा के खर्च के लिए अनिवार्य कर वसूल करने की व्यवस्था मौजूद थी। इस विचार से न तो यह जमींदार की इच्छा पर ही निर्भर था कि वह इस कर को अदा करे और न इस बात का ही कोई प्रबन्ध था कि सरकार उसके साथ इसमें आधा साझा करे। परन्तु हमारे प्रान्त म ये दोनों बातें मौजूद थीं। आर्थिक दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार करना महत्त्व की बात है। क्योंकि अगर सरकार के जिम्मे इसका आधा भाग रहता है तो सारे प्रान्त मे शिक्षा कर लगाने पर सरकार की ओर से मिलने वाले हिस्से का भार बहुत अधिक बढ़ जाता है।

शिक्षा-कर का मालगुजारी में जोड़ा जाना

इसलिए सरकार ने सन् १८६६ में यह घोषित कर दिया कि तत्कालीन बन्दोबस्त के हिसाब से जमीन की उत्पत्ति का ५५ प्रतिशत भाग लगान मे लिया जायगा। इसी में सड़क, पुलिस और शिक्षा आदि क अन्य कर भी सम्मिलित थे। लेकिन इन सब करों को एक साथ लगान में मिला कर वसूल करने का आयोजन करते समय सरकार ने ऐसी कोई विवेचना नहीं की थी जिससे जमींदारों को इसके खर्च पर नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया हो और न ही उनके ऐसे किसी प्रकार के अधिकार

के सरक्षण का जिम्मा लिया था जो उन्हें पहले ऐसे छोटे-छोटे करों के सम्बन्ध में प्राप्त हुए बतलाये जाते थे। ये छोटे कर तो वह अब भी पहले की भाँति अपनी जब से देते थे, किन्तु अब अन्तर केवल इतना ही हो गया था कि जहाँ पहले सरकार को उसके बराबर की रक़म देनी पड़ती थी, वहाँ अब केवल ज़मींदार के ही सिर पर सारे खर्चे का भार था। इससे स्पष्ट है कि जो शिक्षा-कर पहले उसकी इच्छा पर निर्भर था और चन्दे की भाँति वसूल किया जाता था, वही अब निर्धारित और निश्चित टैक्स के रूप में परिवर्तित हो गया था।

इस समस्या का दूसरा स्वरूप प्रजा का परिवर्तित दृष्टिकोण था। जहाँ तक कृषि-वर्ग का सम्बन्ध था, शिक्षा-कर अब स्थानीय कर नहीं रह गया था, जिसका देनदार ज़मींदार हो। अब तो जो खर्च देहाती स्कूलों पर होता था, उसे ज़मींदार सरकारी सहायता समझता था और इसी कारण उसे इस रुपये पर किसी प्रकार के नियन्त्रण का कोई हक़ प्राप्त न हो सकता था। साथ ही साथ अब इस कर का स्थानीयपन भी नष्ट हो गया था, क्योंकि अब तक तो यह रुपया उसी स्थान के स्कूल के ही उपयोग में आ सकता था, परन्तु अब तो इसका उपयोग सारे प्रान्त की प्रजा के लिए था, जिसमें तहसीली और अन्य प्रकार के सभी स्कूलों का साझा था।

इस प्रकार इस नयी व्यवस्था के कारण ज़मींदार और देहाती स्कूल में जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुआ था, वह टूट गया।

इस्तमरारी बन्दोबस्त के जिलों में शिक्षा कर

जमींदार लोगों ने इस परिवर्तन को बिना किसी आनाकानी के मान लिया। इससे जाहिर है कि उनको भी इस शिक्षा कर के अनिर्धारित स्वरूप में अधिक विश्वास न था। जिन प्रदेशों में जमीन का बन्दोबस्त निश्चित समय के लिए होता था, उनमें ऐसे बन्दोबस्त के समय इस नये कर का लगा देना आसान था, परन्तु जिन जिलों में इस्तमरारी बन्दोबस्त था, वहां इस शिक्षा कर के लगाने में बडी कठिनाई थी। परन्तु फिर भी बनारस कमिश्नरी के उन चार जिलों में, जिनमें इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी है, जमींदार लोग इस बात पर राजी हो गये कि व गवनमेन्ट को अपने लगान की रकम का आधा प्रतिशत इस शर्त पर दे देंगे कि सरकार खुद भी आधा प्रतिशत दे। सन् १८६६ ई० में गवर्नमेन्ट ने इस शर्त को मजूर कर लिया और इस प्रकार सारे प्रान्त के जमींदार ग्रामीण शिक्षा के लिए कर देने लगे।

शिक्षा-कर के नियन्त्रण के लिए जमींदारों की मॉग

शिक्षा कर का देना जमींदारों की इच्छा पर निर्भर था, इसी लिए बहुत से जमींदारों ने इस बात की मॉग पेश की कि उनको इस फंड के नियन्त्रण का भी अधिकार मिलना चाहिए। चुनाँचे अलीगढ़ के जमींदारों ने प्रान्तीय सरकार के पास इस आशय का एक मिमोरियल (प्रार्थनापत्र) भेजा। यह प्रार्थना पत्र अलीगढ़ साइन्टिफिक सोसाइटी की ओर से पेश किया गया था,

जिसके मंत्री राजा जयकृष्णदास थे। यह स्वयम् भी जमींदार थे और गदर के जमाने की इनकी विशेष सेवाएँ थीं। इसलिए यह गवनमेन्ट के भी विश्वास पात्र थे और जमींदारों का भी इन पर पूरा भरोसा था।

इस मिमोरियल में इस बात की शिकायत की गयी थी कि शिक्षा के खर्च के लिए शिक्षा कर तो जमींदारों से वसूल किया जाता है, परन्तु यह बड़े ताज्जुब की बात है कि न तो उन्हें इस शिक्षा क्रम के प्रबन्ध में ही कोई अधिकार दिया गया है और न इस रुपये के खर्च पर ही उनका कोई नियन्त्रण है। इसलिए उनको यह जान कर बड़ा कष्ट है कि इस सम्बन्ध के किसी विषय में भी उनसे सलाह मशवरा नहीं लिया जाता और इतना कर रुपया देने पर भी उनको यह भी नहीं बतलाया जाता कि उसे किस प्रकार और किन किन मदों में खर्च किया जा रहा है। इसलिए उनकी यह प्रार्थना थी कि जो रुपया वे शिक्षा कर के रूप में सरकार को देते थे, और जो रुपया सरकार शिक्षा को सहायतार्थ देती थी, उस सब को मिलाकर एक अलग शिक्षा फंड बना दिया जाय, जो केवल उसी जिले की प्रजा के हित के लिए खर्च किया जाय, जिनसे उसका रुपया वसूल किया गया था। इस मिमोरियल में यह भी प्रार्थना की गयी थी कि जिले के शिक्षा विभाग के कर्मचारी और जमींदारों की एक ऐसी कमिटी बनायी जाय, जिसका अध्यक्ष जिले का कलक्टर या कमिश्नर हो और जो इस शिक्षा क्रम की पूरी

देख-रेख तथा उसके खर्च का पूरा नियन्त्रण कर सके और इस कमिटी के अधिकार में उस जिले की शिक्षा का पूरा भार हो।'

अलीगढ़ के ये जमींदार काफ़ी सुशिक्षित थे और अपने स्वत्वों और अधिकारों का ज्ञान रखते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने अपने अधिकारों की माँग पेश की, परन्तु इसका महत्ता तो इस बात में है कि यह प्रार्थना पत्र प्रजा की उस स्पष्ट इच्छा का सब से पहला उदाहरण है जो उसने उस विभाग के प्रबन्ध में भाग लेने के लिए मन से पहले प्रकट की, जिसके लिए उसने स्वयम् रुपया दिया था। इस माँग की वैधता बड़े मार्के की थी और सरकार को इस बात के समझने में अधिक देर न लगी कि हवा का रुख किस ओर था। यद्यपि हमारी सरकार इस बात का स्वागत करने के लिए तैयार थी कि हमारे यहाँ के जमींदार और तालुकेदार अपने उस दबाव को अधिकाधिक काम में लाने के लिए आन्दोलन खड़ा करें जो उनको प्राप्त है और साथ ही शासन प्रबन्ध के साधारण कामों में इन लोगों की सहकारिता और इनकी सहानुभूति का आदर करने को भी तैयार था फिर भी उसे इस बात के अन्देशे को दूर करने की शीघ्र ही कोशिश करनी पड़ी कि वे उस बात की प्राप्ति के लिए अपना अधिकार प्रदर्शित करें जिसे कुछ हद तक और कुछ विशेष कारणों से वह उनको स्वयम् देने के लिए तैयार थी।

सरकार का रुख

इसलिए सन् १८६६ के अपने एक मन्तव्य में सरकार ने यह प्रकट किया कि हमारे सामने इस बात की शिकायत की गयी है कि जो लोग शिक्षा के खर्च के लिए धन देते हैं, उनको उस पद्धति के प्रबन्ध में कोई अधिकार नहीं दिया गया है, अथवा उस रुपये के व्यय पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं है। परन्तु यही तर्क इस देश के शासन के सम्बन्ध में तथा मालगुजारी और अन्य टैक्सों के व्यय और उनके नियन्त्रण पर भी लागू हो सकता है। इसलिए इस तर्क के सार्थक परिणाम को स्वीकार करते हुए उस समय के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने कहा, "इस शिकायत का एक ही जवाब हो सकता है और वह यह है कि इसके पूर्व कि लोगों को शासन प्रबन्ध के नियन्त्रण में कोई अधिकार दिया जाय, उन्हें इस बात को प्रमाणित करना होगा कि वे इन अधिकारों और इस उत्तरदायित्व के योग्य भी हैं या नहीं क्योंकि इसी योग्यता को उनमें उत्पन्न करने के लिए सरकार ने शिक्षा प्रचार के ये साधन उनके लिए उपस्थित कर दिये हैं।"

शिक्षा-कर के सम्बन्ध में गवर्नमेन्ट ने यह घोषित कर दिया कि यह कर सारी प्रजा के हित के लिए लिया जायगा और सरकारी मालगुजारी में, जो पृथिवी की उपज की निरखर्ची आय पर ५५ प्रतिशत देनी निश्चित हुई थी, यह कर भी शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार शिक्षा सम्बन्धी-व्यय भी मालगुजारी से ही दिया जाना निश्चित हुआ और इसलिए

जमींदारों को उसके प्रबन्ध अथवा नियन्त्रण में किसी प्रकार के अधिकार का प्रश्न एक क्षण के लिए भी उपस्थित नहीं हो सकता था।

स्कूल-कमिटियों की स्थापना

इस प्रकार इस मिमोरियल के वैध अंश का उत्तर दे कर सरकार ने इस बात की आवश्यकता महसूस की कि जिले के अफसरों, जमींदारों और अन्य धनी मानियों को भी स्कूलों के प्रबन्ध में कुछ अधिकार दिया जाय, ताकि वे इन संस्थाओं की उन्नति में अधिक योग दे सकें। इस विचार से सरकार ने कुछ जिलों में शिक्षा कमिटियाँ नियुक्त कर दीं और यही कमिटियाँ कुछ समय बाद सारे प्रान्त में नियुक्त हो गयीं।

मिस्टर टॉमसन ने इस बात की घोषणा की थी कि सरकार अपने निजी स्कूल स्थापित न करके, प्रजा को इस बात में सहायता देने को तैयार थी कि वह स्वयम् अपने स्कूल स्थापित करे। लेकिन यह सब कहते हुए भी गवर्नमेंट ने जमींदारों की उस विशिष्ट माँग को जिससे उनका पूरा पूरा सहयोग प्राप्त होता, स्वीकार न करके, एक बड़ा अच्छा अवसर खो दिया। परन्तु इसके साथ साथ यह भी याद रखना चाहिए कि धन-कोष पर अधिकार पाये बगैर शिक्षा विभाग को अपनी मान मर्यादा स्थापित करना और उसे बनाये रखना कठिन हो जाता। अब तो यह बात अनुभव से स्पष्ट हो गयी है कि अगर शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टरों के हाथ में से यह अधिकार ले लिये जाँय तो

नकी मर्यादा और यहाँ तक कि उनकी उपयोगिता भी शीघ्र ही
जाती रहेगी। एक गैर सरकारी स्कूल के योग्य मन्त्री ने मुझसे एक
बार कहा था कि उन लोगों की निगाह में इन्सपेक्टरों का मान
केवल इसीलिए था कि उनके हाथ में धन का अधिकार था।

स्कूल-कमिटियों की असफलता

इस परिस्थिति में जो स्कूल कमिटियाँ बनायी गयी थीं, उनमें
प्रतिनिधि जमींदारों का कोई आकर्षण न रह गया था। कुछ
लोगों का यह भी विचार हो गया था कि उनसे रुपया अधिक
लेने के लिए यह चाल चली गयी थी। इन कमिटियों के सदस्यों
के कर्त्तव्य भी निश्चित न थे और इसलिए लोग यह समझने
लगे थे कि इन कमिटियों में शामिल होने के लिए जिले में जाना
व्यर्थ का कष्ट और फिजूल का खर्च उठाना था। इस प्रकार कुछ
लोगों की उदासीनता, कुछ का तिरस्कार, कुछ की असहकारिता,
और कुछ लोगों के अहंकार—इन सब बातों से एक तो कमिटियाँ
बनना ही कठिन हो गया था और फिर उनमें काम करना तो
बिलकुल ही असम्भव हो गया। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि
सरकार को भी इस बात की रिपोर्ट मिली कि अलीगढ़ के
जमींदारों ने, जिनके इशारे से यह कमिटियाँ बनायी गयी थीं,
उनमें किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया।

नयी कमिटियों का रूप

सन् १८७१ ई० में एक कानून पास हुआ जिसके द्वारा, लोगों
की आमदनी के अनुसार, हर जिले की शिक्षा के लिए एक टैक्स

नियत किया गया और इसकी आय से सारे प्रान्त के लिए एक कोष स्थापित करके हर जिले में एक कमिटी नियुक्त की गयी। इसको यह काम सौंपा गया कि वह इस कोष में से उस जिले के लिए जितना रुपया खर्च के लिए दिया गया था, उसका नियन्त्रण करे। इस कमिटी ने कई उपसमितियाँ बनायीं जिनमें से एक का नाम शिक्षा-समिति रखा गया। यह कमिटी १८६६ ई० में बनायी हुई कमिटियों के स्थान पर थी। इन नयी शिक्षा समितियों का अधिकार पूरे जिले पर था और इनमें सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए जमींदार सदस्य बनाये गये थे। इन कमिटियों को अध्यापकों की नियुक्ति करने, उनको बरखास्त करने तथा अन्य प्रकार से दण्ड देने का अधिकार दिया गया था और इनका कार्य था कि वे स्कूलों की इमारतों की देख रेख रखें और गवनमेन्ट की मंजूरी के लिए अपने जिले की शिक्षा के खर्चे का बजट बनायें।

इस बजट में उन्हें खर्चे की हर मद का ब्यौरा देना पड़ता था और इस खर्चे के लिए नियम भी बड़ी कड़ाई से बनाये गये थे। इसके सम्बन्ध में १८८२ ई० की शिक्षा कमिटी की रिपोर्ट में लिखा है, "यह सत्य है कि औरङ्गजेब के शासनकाल के बाद १८७४ ई० में संयुक्त प्रान्त में शासन का केन्द्रीकरण अपनी अन्तिम अवस्था को पहुँच गया था, लेकिन उस समय की कमिटियों के अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उनको ढीला करने के लिए, बड़े जोरदार अधिकारी

की आवश्यकता है और इसीलिए वे अभी तक शिथिल नहीं पड़े हैं।"

अवध के स्कूलों के इन्सपेक्टर मिस्टर जे० सी० नेस्फ़ील्ड की राय में इन प्रतिबन्धों के कारण शिक्षा विभाग के दैनिक काम में बहुत अड़चन पड़ती थी। कार्य-सञ्चालक समिति के कामों पर जो इन कमिटियों को नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए ही था, लेकिन इनके सुपुर्द सञ्चालन का सारा काम किया गया था। फिर इन्हें रुपये पैसे के खर्च का कोई अधिकार न देकर, शिक्षा विभाग के सामने उत्तरदायी बना दिया गया था। इसीलिए ये बिलकुल असफल प्रमाणित हुईं।

सन् १८८२ की अवस्था

१८८२ ई० के शिक्षा-कमीशन की जाँच के समय हमारे सूबे में सरकार द्वारा स्थापित ५,३२९ प्राइमरी और ४१५ मिडिल स्कूल मौजूद थे। सन् १८५० ई० में केवल ८ जिलों में प्रयाग की दृष्टि से स्थापित करके तहसीली और हलकाबन्दी पद्धति के स्कूल भी सारे सूबे में फैल गये थे और अब इस समय यह मालूम करना असम्भव हो गया है कि इनमें से कितने देहातों में थे और कितने क़स्बों में थे। देसी स्कूलों को सरकारी इमदाद न देने की नीति इतनी अधिक सफल हुई थी कि इस समय केवल ५६ प्राइमरी और ७ तहसीली इमदादी मिडिल स्कूल थे। गैर इमदादी देसी पाठशालाओं का अब कोई ब्यौरा नहीं मिलता। प्राइमरी स्कूलों में यह नियम बना दिया गया था कि

और उच्च कोटि की थीं और इसलिए प्रतिस्पर्द्धा में गैर सरकारी स्कूल बहुत पिछड़े हुए थे।

गवर्नमेन्ट की इस नीति से सबसे अधिक हानि मिशनरियों को सहन करनी पड़ी। इसमें सन्देह नहीं कि यत्र तत्र हिन्दुस्तानियों द्वारा सञ्चालित स्कूल भी चल रहे थे लेकिन ऐसे स्कूलों में मिशन स्कूलों की संख्या ही अधिक थी। वैसी गैर सरकारी स्कूलों की बनिस्बत मिशन स्कूलों के लिए बाजी मार ले जाना भी सरल था, क्योंकि उनके यहाँ युरोपियन और अमेरिकन शिक्षक होने के कारण पढ़ाई के उत्तम साधन मौजूद थे। उनके यहाँ का प्रबन्ध भी बढ़िया था और उनके पास पर्याप्त धन होने के कारण उनकी धाक भी खूब जमी हुई थी। उन्हें अब यह भी आशा हो रही थी कि सरकारी अँगरेजी स्कूल भी शीघ्र ही उनके अधिकार में आ जायँगे, क्योंकि उच्च शिक्षा प्रचार में सबसर्वा बनने में केवल सरकारी स्कूल ही उनके लिए बाधक थे। इस बाधा को दूर करने के अन्तरङ्ग उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा विभाग के विरोध की शिकायत करनी शुरू की। यह आन्दोलन पहले भारतवर्ष में शुरू किया गया परन्तु जब उन्होंने उसमें सफलता होते न देखी तो उसे विलायत में भी शुरू किया।

सन् १८७८ ई० में लन्दन में 'जनरल काउन्सिल आफ एजूकेशन इन इण्डिया' नामक संस्था स्थापित हुई। इसके सदस्या में सन् १८५४ के खरीते के लेखक लार्ड हैलीफैक्स तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्ति भी सम्मिलित थे। रेवरेंड जेम्स जानसन

साहब इस संस्था के मन्त्री थे। इस संस्था ने अनेक प्रभावशाली मनुष्यों की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली थी और जब सन् १८८० में लार्ड रिपन की नियुक्ति भारत के वाइसराय के पद पर हुई तो उस समय इस संस्था ने लार्ड रिपन को एक अभिनन्दन पत्र भी प्रदान किया था। इस पत्र में सन् १८५४ के खरीते का पालन न हो सकने की शिकायत भी की गयी थी। इसके उत्तर में लार्ड रिपन ने उक्त संस्था को आश्वासन देते हुए कहा था कि भारत में पहुँचने पर वे इस मामले की छानबीन करेंगे। इस प्रकार सन् १८८२ में सर विलियम हन्टर के सभापतित्व में एक शिक्षा-कमीशन नियुक्त हुआ। इस कमीशन में मिशनरी सभासद काफी संख्या में थे। बङ्गाल के सर भूदेव मुकर्जी और हमारे प्रान्त के जस्टिस महमूद जैसे योग्य हिन्दुस्तानियों की भी नियुक्ति इस कमीशन पर हुई थी।

इस कमीशन की नियुक्ति ने देश में एक नया जोश पैदा कर दिया। इसके सामने लगभग ३२३ प्रार्थनापत्र और १९३ गवाह उपस्थित हुए। उन हिन्दुस्तानियों ने जिन्हें अङ्गरेजी शिक्षा द्वारा काफी लाभ हुआ था और जिनकी माँगों और आवश्यकताओं की ही पूर्ति के लिए इस शिक्षा का प्रचार किया गया था, देश में उच्च शिक्षा प्रचार का पक्ष लिया और हमारे प्रान्त के राजा शिवगा, सर सैयद अहमद खाँ, राजा जैकृष्णदास, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, मिस्टर जे० सी० नेसफील्ड आदि जैसे प्रमुख व्यक्तियों ने कमीशन के सामने गवाहियाँ दीं।

इन गवाहियों से सर्वसाधारण की शिक्षा के सम्बन्ध में कितनी ही महत्वपूर्ण बातें विदित हुई। उनमें एक तो यह थी कि पुरानी पद्धति पर सञ्चालित पाठशालाएँ बन्द होती चली जा रही थीं। दूसरी कठिनाई सारे प्रान्त में एक भाषा न होने की थी। बहुतेरे गवाहों ने अपने बयानों में लोगों की निर्धनता को प्रारम्भिक शिक्षा प्रचार की मन्द गति का कारण बतलाया था। साहित्यिक लोगों ने अपनी गवाहियों में सर्वसाधारण में शिक्षा प्रचार करने का समर्थन करते हुए इस बात पर जोर दिया था कि सरकारी संस्थाओं में शिक्षाप्राप्त लोगों द्वारा जनता में शिक्षा प्रचार किया जाय।

कमीशन की सिफारिशें

इस कमीशन ने सारे भारतवर्ष की शिक्षा के सम्बन्ध में एक बड़ी लम्बी चौड़ी रिपोर्ट तैयार की, परन्तु इस पुस्तक में हम केवल यह देखना है कि प्राइमरी शिक्षा के सम्बन्ध में इसने किन सुधारों की सिफारिश की थी। इस कमीशन की रिपोर्ट के चौथे अध्याय में सबसे पहली सिफारिश यह की गयी थी कि जनता में शिक्षा प्रचार करने के लिए प्राइमरी शिक्षा देसी भाषाओं में दी जाय और इसके द्वारा वे विषय पढ़ाये जाँय जो विद्यार्थियों को उनकी स्थिति के अनुसार उनके जीवन में उपयुक्त साबित हों। इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह आवश्यक नहीं था कि यह प्रारम्भिक शिक्षा विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक साधन हो। इसका मतलब यह था कि मातृभाषा के

माध्यम द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण हो और यह आवश्यक न था कि यह उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन बने। इसके अनुसार प्रारम्भिक स्कूल केवल प्राइमरी शिक्षा के लिए ही खोले जांय, न कि उच्च शिक्षा की तैयारी के लिए। हमारे प्रान्त में वर्नाक्युलर और ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों के पाठ्यक्रमों के पारस्परिक अन्तर से यह बात स्पष्टतः प्रतीत हो रही है।

इसी अध्याय में तीसरी सिफारिश में इस बात का उल्लेख है कि हर प्रकार की शिक्षा के लिए सरकार की सहायता सर्वथा अपेक्षित है। जनता में प्रारम्भिक शिक्षा के साधनों की अभिवृद्धि और उनको उन्नत करना, उस समय की स्थिति के अनुसार, सरकार का परम आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए था और गवर्नमेन्ट ने अब तक इस ओर जितनी चेष्टा की थी, उसे अब इससे कहीं अधिक चेष्टा करने की आवश्यकता थी। वास्तव में कमीशन ने सन् १८५४ के खरीते की सिफारिशों का ही समर्थन अपनी रिपोर्ट में किया था। इस शिक्षा प्रचार के लिए धन सम्बन्धी सहायता का उल्लेख करते हुए सरकार से सिफारिश की गयी थी कि सरकार द्वारा शिक्षा प्रचार की नीति में प्रारम्भिक शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाय और उसके खर्चे के लिए लोकल फंड (स्थानीय कर-कोष) का पूरा रुपया तथा प्रान्तीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा मिलना चाहिए।

भारतीय सरकार ने इन सिफारिशों से पूर्ण सहानुभूति प्रकट की, किन्तु प्रान्तों के विचारवान और उन्नतिशील अधिकारियों

की धारणा यह हुई कि कमीशन ने केवल समझौता करने की दृष्टि से दोनों पक्षों को साधने की बातें की हैं। इस विषय में दो बातें उन्हें विशेष रूप से खटकती थीं। सरकार ने उस समय की स्थिति के बहाने और अन्य प्रकार के शिक्षा क्रमों के प्रचलित होने की आड़ में जनता में, शिक्षा प्रचार की उन्नति को बहुत कुछ परिमित रखने की चेष्टा की थी। फिर यह सिफारिशें अधिक उन्नतिशील और लाभदायक भी नहीं थीं। परन्तु हमारे प्रान्त के उस समय के लाट सर आलफ्रेड लायल का मत इन सिफारिशों की बाबत सरकार के मत से भिन्न था, क्योंकि उनके विचार में माध्यमिक और प्रारम्भिक दोनों ही प्रकार के शिक्षा क्रम समान रूप से महत्त्व के थे। उनके विचार से सहमत होने वाले व्यक्तियों का यह भी कहना था कि यदि सरकार ने इसमें तनिक भी ढील डाल की तो अवश्य ही माध्यमिक शिक्षा की हानि होगी। इसलिए उसे भी सरकार की ओर से पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिए। जनता का बहुमत भी इसी विचार का समर्थक था। इसलिए जब तक मध्य स्थिति वाली शिक्षित जनता का यह विचार था, तब तक कमीशन की सिफारिशों के होते हुए भी, माध्यमिक शिक्षा पर व्यय में किसी प्रकार की कमी होने का भय न था।

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार प्राइमरी शिक्षा में व्यावहारिक विषयों को सम्मिलित करने तथा उसे सर्वतोन्मुखी बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि उसका क्षेत्र विस्तृत

कर दिया जाय। इसलिए कमीशन ने इस बात की भी सिफारिश की थी कि शारीरिक व्यायाम की उन्नति के लिए स्कूलों में देशी खेल-कूद, जिम्नास्टिक, ड्रिल तथा अन्य प्रकार के व्यायाम भी सिखाये जाँय।

प्राइमरी शिक्षा प्रचार में शुल्क का प्रश्न बड़ी उलझन का था। निःशुल्क शिक्षा प्रचार का व्यय तो उस समय उनके लिए भी अपेक्षित नहीं था, जो 'शिक्षा कर' देने वाले थे। फिर हमारे प्रान्त में तो फ़ीस लगा देने से भारी बाधा पड़ने की आशङ्का थी, क्योंकि यहाँ तो प्राइमरी शिक्षा वास्तव में निःशुल्क ही दी जाती थी।

नये लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट ऐक्ट (स्वायत्त शासन विधान) के अनुसार जो जिला बोर्ड कायम हुए थे, उनके जिम्मे यह भार सौंपा गया था कि वे देहातों के प्राइमरी स्कूलों का भी नियन्त्रण करें, परन्तु इस रारीते के चौथे अध्याय की २६वीं सिफारिश में शिक्षा विभाग का नियन्त्रण और शिक्षा नीति का क्रम एकसा बनाये रखने के विचार से यह निश्चित किया गया था कि डिस्ट्रिक्टबोर्ड उन नियमों को यथाविधि स्वीकार कर लें, जो इन स्कूलों की सहायता तथा इनके नियन्त्रण करने के लिए शिक्षा-विभाग ने बना दिये थे और शिक्षा विभाग की स्वीकृति के बिना इनमें कोई परिवर्तन या परिवर्धन न करें। इसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड शिक्षा विभाग द्वारा प्रमाण पत्र पाये हुए अध्यापकों की ही नियुक्ति करें तथा इनकी

तरक्की और बरखास्तगी के मामले में भी शिक्षा विभाग से अनुमति प्राप्त किया करें। कमीशन की यह सिफारिश भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने देसी पाठशालाओं के प्रोत्साहन और उनकी प्रामाणिकता को भी उस हालत में मान लिया था यदि वे किसी प्रकार की लौकिक शिक्षा देते हों।

हमारे प्रान्त के सम्बन्ध में विशेष सिफारिशें

इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि प्रारम्भिक शिक्षा के लिए लोकल फण्ड (स्थानीय कर कोष) का तो सारा रुपया व्यय किया जाय और शिक्षा प्रचार की मद का प्रान्तीय आय का भी अधिकांश भाग इसी पर खर्च हो। इसका शिक्षा क्रम भी लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाया जाय और देसी पाठशालाओं को भी काफी प्रोत्साहन मिले। साथ ही उन जातियों में शिक्षा प्रचार करने के लिए विशेष रूप से चेष्टा की जाय जो कम शिक्षित थीं। कमीशन को इस बात का विश्वास दिलाया गया था कि हमारे प्रान्त की वे जातियाँ जो सदा से प्रजा की दृष्टि में प्रतिष्ठित और उच्च मानी जाती रही हैं, प्रारम्भिक और उच्च दोनों प्रकार की शिक्षा से प्राय वञ्चित रहती हैं। इसलिए कमीशन के विचार में इन जातियों की शिक्षा में प्रोत्साहन देना परम आवश्यक था।

उनके विचार में हलकाबन्दी मदरसे जमींदारों के लड़कों को प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए स्थापित हुए थे और इसलिए

य जातियों के जो लडके इन स्कूलों में पढ़ने जाते थे, उनके र फीस देना अनिवार्य होना चाहिए था। इसीलिए उन्होंने बात की सिफारिश की कि कुछ समय के लिए हलकाबन्दी रसों में केवल जमादारों के ही लड़के रखे जाँय और जिला टियों की सहायता से जो देसी पाठशालाएँ स्थापित हुई थीं, म जनता को शिक्षा दी जाय। इन मदरसों के विद्यार्थियों को फीस देना आवश्यक था।

यह तो उसी पुरानी पद्धति का अप्रत्यक्ष रूप में समर्थन ना था और उन रईसों तथा मुसलमानों के लडकों के ए विशेष सुविधा प्रस्तुत करनी थी, जो अपने बालकों को गार और बढ़ई के बालकों के साथ बैठा कर पढ़ाना पसन्द न ते थे। पश्चिमी सभ्यता का एकीकरण विधान यहाँ के लोगों लिए अत्यन्त अप्रिय प्रतीत होता था। इसीलिए कमीशन ने की शिक्षा के लिए ऐसी सिफारिशें कीं कि यदि कहीं उनके नुसार काम किया जाता तो अवश्य ही शिक्षा प्रचार को बडी नि पहुँचती। हर गाँव में दो दो स्कूलों का खर्च सहन कर कने की शक्ति न थी। यदि हर गाँव में ऐसे दो स्कूल खोले ते जिनमे से एक स्कूल में रईसों के लडके और दूसरे में ग्राम अन्य जातीय बालक शिक्षा पाते तो शायद धनाभाव से १० स ही में सभी स्कूल बन्द हो जाते।

कमीशन की सिफारिशों पर पुन दृष्टिपात करने से हमको लगता है कि प्राय सभी प्रान्तों में उसकी बहुत सी सिफारिशें

लोगों को मालूम थीं। वास्तव मे कमीशन ने १८५४ ई० के खरीते की बातों का ही पिष्टपेषण किया था, परन्तु उसकी रिपोर्ट से एक लाभ यह अवश्य हुआ कि उससे यह प्रत्यक्ष हो गया कि सर्वसाधारण को शिक्षा से कितना लगाव था। इससे यह भी प्रकट हो गया कि अङ्गरेजी राज्य के आरम्भ मे शिक्षा प्रचार के लिए क्या क्या कार्य किये गये थे। ऐसी अवस्था म सारे देश की निरक्षरता का विचार करते हुए क्या यह कुछ कम आश्चर्य की बात है कि इस कमीशन ने सर्वसाधारण म प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा प्रचार के लिए बजट मे केवल दस लाख रुपये सालाना बढ़ाने की अनुमति दी थी?

सम्भव है कि इस परिस्थिति म जो उन्नति होती, वह स्थायी होती, परन्तु वह कितनी मन्द हो गयी, इसका परिणाम आज भी प्रत्यक्ष है।

छठा अध्याय

सन् १८८२ वाले कमीशन के बाद की उन्नति

जिला बोर्डों के अधिकार में गाँवों की प्रारम्भिक शिक्षा

सन् १८८२ के कमीशन ने शिक्षा प्रचार के कार्य में एक नयी रूचि पैदा कर दी थी। यद्यपि इसकी सिफ़ारिशें बहुत अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के पक्ष में न थीं, फिर भी इनके प्रकाशित हो जाने से शिक्षा प्रचार के कार्य की गति में कुछ उन्नति अवश्य हुई। इसी समय १८८३ ई० में लार्ड रिपन का प्रसिद्ध स्वायत्त शासन विधान (लोकल सैल्फ़ गवर्नमेन्ट ऐक्ट) स्वीकृत होकर क़ानून बन गया और उसके अनुसार प्रत्येक जिले के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को गाँवों की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रतिपालक बना दिया गया।

ये जिला बोर्ड १८८५ ई० में पुरानी जिला कमिटियों के स्थान में बनाये गये थे और इनमें हमारे देश के शासन प्रबन्ध-नीति से अनभिज्ञ बेचारे उदासीन सदस्यों को अँगरेज़ अफ़सरों की अभिभावुकता में इस नये प्रकार की शासन-विधि सिखाने का पहला ही प्रयत्न था। १८८३ ई० के इस नये क़ानून के अनुसार गाँवों में स्कूल खोलने, उनका समुचित प्रबन्ध करने तथा उनके सञ्चालन करने का सारा भार इन्हीं जिला बोर्डों के ऊपर

छोड़ दिया गया था। २५ फ़रवरी १८८५ ई० के मन्तव्य द्वारा सरकार ने उन्हे आदेश दिया था कि स्वायत्त शासन के अधीन करते समय गवर्नमेन्ट ने कई विभागों के सम्बन्ध म समय समय पर जो शासन सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, उनके अनुसार सारा काम होना चाहिए और उनका यथाविधि पालन किया जाना चाहिए। साथ ही इन सब बातों म एक ही नीति का प्रयोग करने के विचार से गवर्नमेन्ट ने इन प्रतिबन्धों के दाइरे के भीतर ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह भी अधिकार दे दिया था कि वे अपनी स्वेच्छा का यथावसर उपयोग करें। इसीलिए गवनमेन्ट के लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वह इन बोर्डों को इस बात के लिए बाध्य करे कि कुछ आवश्यक मामलों में उनके लिए विभागीय अफसरों की अनुमति लेना बड़ा जरूरी था।

बोर्डों की धनाभाव सम्बन्धी कठिनाइयाँ

परन्तु इन जिला बोर्डों क पास शिक्षा प्रचार के लिए अलग से कोई निश्चित कोष न था। पुरानी जिला कमिटियों ने प्रान्तीय आय म से शिक्षा प्रचार के लिए कई विशेष मद मंजूर करा लिये थे, परन्तु नये ऐक्ट की धाराओं के अनुसार इन नये बोर्डों के पास शिक्षा प्रचार के लिए केवल स्थानीय और बोर्ड क अधीन लोक-सेवा कार्यों के करों की ही आय थी। इसके अतिरिक्त जो रुपये की कमी रह जाती थी, उसे सरकार प्रान्तीय कोष में से एक मुश्त देकर पूरा कर देती थी। साल में जो रुपया खर्च करने से बच रहता था, वह कमीशन की सिफारिश के प्रतिकूल सरकार

में जब्त हो जाता था। चूँकि व्यापार या कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का कोई प्रबन्ध नहीं था इसलिए उनके लगान में भी किसी प्रकार की वृद्धि की आशा नहीं हो सकती थी और इसीलिए निकट भविष्य में शिक्षा के प्रचार में भी किसी प्रकार की वृद्धि की सम्भावना नहीं थी। परन्तु शिक्षा पर खर्चा तो तुरन्त बढ़ गया था, क्योंकि जाँच करने के अफसर—डिप्टी और सबडिप्टी इन्स्पेक्टरों का खर्चा भी इन्हीं जिला बोर्डों पर लादा गया था और ऊँचे दरजे के अफसर—इन्स्पेक्टरों और असिस्टेंट इन्स्पेक्टरों का कुछ खर्च भी उनके जिम्मे था।

नये एक्ट के अनुसार डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर कुछ उत्तरदायित्व भी रखा गया था। इसलिए शिक्षा के साथ साथ कई अन्य विभाग उनके अधिकार में दिये गये थे। उनसे यह आशा भी की गयी थी कि वे प्रयत्न करके शिक्षा की ओर लोगों की अभिरुचि बढ़ायेंगे। इसलिए इस विचार से तो इन जिला बोर्डों का काम अधिक सफल नहीं रहा, क्योंकि हमारे प्रान्त की शिक्षा-विभाग की सन् १८९७ की रिपोर्ट में लिखा है कि शिक्षा में इन जिला बोर्डों का सारा प्रयत्न जिले के कलक्टर या डिप्टी कमिश्नर के रुख पर निर्भर होता है। वास्तव में सिवाय उस अवसर के जब कि किसी को कोई नौकरी दिलाना होती थी, बोर्ड के मेम्बरों की कोई गणना न थी।

इसी वर्ष एटा बोर्ड के चेयरमैन ने एक ऐसी योजना तैयार की थी जिसमें बोर्ड के प्रत्येक मेम्बर के जिम्मे कुछ स्कूल सौंप

छोड़ दिया गया था। २५ फरवरी १८८५ ई० के मन्तव्य द्वारा सरकार ने उन्हें आदेश दिया था कि स्वायत्त शासन के अधीन करते समय गवर्नमेन्ट ने कई विभागों के सम्बन्ध में समय समय पर जो शासन सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, उनके अनुसार सारा काम होना चाहिए और उनका यथाविधि पालन किया जाना चाहिए। साथ ही इन सब बातों में एक ही नीति का प्रयोग करने के विचार से गवर्नमेन्ट ने इन प्रतिबन्धों के दाइरे के भीतर ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह भी अधिकार दे दिया था कि वे अपनी स्वेच्छा का यथावसर उपयोग करें। इसीलिए गवर्नमेन्ट के लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वह इन बोर्डों को इस बात के लिए बाध्य करे कि कुछ आवश्यक मामलों में उनके लिए विभागीय अफसरों की अनुमति लेना बड़ा जरूरी था।

बोर्डों की धनाभाव सम्बन्धी कठिनाइयाँ

परन्तु इन जिला बोर्डों के पास शिक्षा प्रचार के लिए अलग से कोई निश्चित कोष न था। पुरानी जिला कमिटियों ने प्रान्तीय आय में से शिक्षा प्रचार के लिए कई विशेष मद मंजूर करा लिये थे, परन्तु नये ऐक्ट की धाराओं के अनुसार इन नये बोर्डों के पास शिक्षा प्रचार के लिए केवल स्थानीय और बोर्ड के अधीन लोक-सेवा कार्यों के करों की ही आय थी। इसके अतिरिक्त जो रुपये की कमी रह जाती थी, उसे सरकार प्रान्तीय कोष में से एक मुश्त देकर पूरा कर देती थी। साल में जो रुपया खर्च करने से बच रहता था, वह कमीशन की सिफारिश के प्रतिकूल सरकार

में जब्त हो जाता था। चूँकि व्यापार या कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का कोई प्रबन्ध नहीं था, इसलिए उनके लगान में भी किसी प्रकार की वृद्धि की आशा नहीं हो सकती थी और इसीलिए निकट भविष्य में शिक्षा के प्रचार में भी किसी प्रकार की वृद्धि की सम्भावना नहीं थी। परन्तु शिक्षा पर खर्चा तो तुरन्त बढ़ गया था, क्योंकि नीचे दरजे के अफसर—डिप्टी और सबडिप्टी इन्स्पेक्टरों का खरचा भी इन्हीं जिला बोर्डों पर लादा गया था और ऊँचे दरजे के अफसर—इन्स्पेक्टरों और असिस्टेंट इन्स्पेक्टरों का कुछ खर्च भी उनके जिम्मे था।

नये एक्ट के अनुसार डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर कुछ उत्तरदायित्व भी रक्खा गया था। इसलिए शिक्षा के साथ साथ कई अन्य विभाग उनके अधिकार में दिये गये थे। उनसे यह आशा भी की गयी थी कि वे प्रयत्न करके शिक्षा की ओर लोगों की अभिरुचि बढ़ायेंगे। इसलिए इस विचार से तो इन जिला बोर्डों का काम अधिक सफल नहीं रहा, क्योंकि हमारे प्रान्त की शिक्षा विभाग की सन् १८९७ की रिपोर्ट में लिखा है कि शिक्षा में इन जिला बोर्डों का सारा प्रयत्न जिले के कलक्टर या डिप्टी कमिश्नर के रुख पर निर्भर होता है। वास्तव में सिवाय उस अवसर के जब कि किसी को कोई नौकरी दिलानी होती थी, बोर्ड के मेम्बरों की कोई गणना न थी।

इसी वर्ष एटा बोर्ड के चेयरमैन ने एक ऐसी योजना तैयार की थी जिसमें बोर्ड के प्रत्येक मेम्बर के जिम्मे कुछ स्कूल सौंप

दिये गए थे। परन्तु यह भी बहुत दिनों तक न चल सकी, क्योंकि वास्तव में यह स्कूल सरकारी उद्योग और सरकारी संरक्षण पर चलने के इतने निर्भर हो गये थे कि जहाँ कहीं इसकी कमी हुई कि इन स्कूलों की अवनति होने लगी। इलाहाबाद के मैजिस्ट्रेट मिस्टर फुलर ने इसीलिए अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि इन स्कूलों में लड़कों की कम उपस्थिति और रद्दी पढ़ाई का एक जबर्दस्त कारण यह भी है कि तहसीलदार और डिप्टी कलक्टर इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते। इसीलिए जनता भी इनकी ओर से उदासीन होती जाती है।

हमारे यहाँ की जनता के उत्साह का खोखलापन इससे अधिक और किन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है कि १५ वर्ष तक काम करते रहने पर भी इन जिला बोर्डों में कोई उन्नति न हो सकी। सन् १९०० की शिक्षा विभाग की रिपोर्ट में भी इन जिला बोर्डों की यही शिकायत देखने को मिलती है, क्योंकि उसके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि यह जिला बोर्ड शिक्षा में कोई विशेष उत्साह दिखा रहे हैं। सन् १९०१ की रिपोट में तो यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'साल के पूरे बारह महीने में शायद ही कोई मेम्बर स्कूल के भीतर पैर रखता हो। लेकिन जब सालाना प्रस्ताव भेजने का समय आता है तो यह मेम्बर अध्यापकों के काम के सम्बन्ध में बड़े खुले शब्दों में अपनी राय प्रकट करने से नहीं शरमाते और इस समय ये लोग शिक्षा विभाग के मुक़ाबिले में अध्यापकों के पक्षपाती और

देहातों मे केवल अपनी स्थिति के कारण मम्बर बना दिये गये थे और वास्तव मे न तो ये स्वयम् ही अधिक शिक्षित थे और न इनको शिक्षा से कोई प्रेम ही था। ऐसी अवस्था मे यह कब आशा की जा सकती थी कि वे जनता को शिक्षा की ओर ध्यान देते। ऐसे गैरसरकारी मम्बर जो शिक्षा म कुछ उत्साह लेते हों, कस्बों के म्युनिसिपल बोर्ड में तो अवश्य पाये जाते थे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डो के इस धनाभाव का प्राइमरी स्कूलों पर उलटा प्रभाव पड़ा। इनके पास रुपये की बहुत कमी थी, परन्तु अध्यापकों का वेतन बढाना भी जरूरी था। इसलिए बहुत से बोर्डो ने यह निश्चय किया कि कुछ हलकाबन्दी स्कूलों को तोड़ कर जो रुपया बचे, उससे योग्य शिक्षकों की वेतन-वृद्धि की जाय। साथ ही अपर प्राइमरी दरजों की फीस भी बढ़ा दी जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ १८८६ ८७ में ४,९७८ स्कूलों में विद्यार्थियों की सख्या १,७१,८१२ थी, वहाँ सन् १८९१ ९२ म ४,१८५ स्कूलों में यह सख्या घट कर १,४७,७१४ रह गयी। साथ

ही साथ अब एक विद्यार्थी के पढ़ाने का खर्च ३।) से बढ़ कर ४) हो गया।

सन् १८९४ में हमारे प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एन्टनी मैकडानल्ड ने शिक्षा रिपोर्ट की आलोचना करते हुए लिखा था —

(१) हमारे सूबे में प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले सब विद्यार्थियों की सख्या हमारे यहाँ की जन सख्या के अनुपात में और सब प्रान्तों से थोड़ी है।

(२) हमारे यहाँ की प्रान्तीय और स्थानीय आय के मुकाबिले में सरकारी कोष से शिक्षा पर जो रुपया खर्च हो रहा था, वह बहुत कम था और इस रुपये का भी बहुत बड़ा अंश माध्यमिक और अँगरेजी शिक्षा पर खर्च किया जा रहा था।

(३) प्रत्येक बालक की शिक्षा पर व्यय का जो औसत आता था वह बहुत अधिक था और

(४) नार्मल स्कूलों में अध्यापकों को जो शिक्षा दी जाती थी, वह बिल्कुल अपर्याप्त थी।

इसलिए इस रिपोर्ट पर सन् १८९४—९५ के सरकारी मन्तव्य में, हमारे प्रान्त के ऊपर से निरक्षरता का लाञ्छन मिटाने के लिए, यह सिद्धान्त स्थिर किया गया कि हमारे यहाँ की शिक्षा में व्यय की मात्रा में किफायत करके शिक्षा के प्रचार में अधिक विस्तार किया जाय। इस शुभ इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के लिए हमारे प्रान्त की समाई के अनुसार सरकारी इमदाद की मात्रा अधिक से अधिक बढ़ा

कर ७५ हजार रुपया सालाना कर दी। यद्यपि यह इमदाद भी बहुत कम थी तो भी जिला बोर्डों को साल भर में सिर्फ इसका दो तिहाई खर्च करने का अधिकार मिला था। इसीलिए सरल से सरल प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार करने के विचार से यह निश्चित हुआ कि इस सम्बन्ध में अब तक प्राइवेट संस्थाओं द्वारा स्कूल न खोलने देने की जो नीति बरती गयी थी उसे और न बढ़ने दिया जाय, बल्कि अब से जो लोग अथवा जो संस्थाएँ नये स्कूल खोलना चाहें, उन्हें सरकार की तरफ से सहायता भी प्रदान की जाय।

इस प्रकार इस नयी नीति का शीघ्र ही बड़ा सन्तोषजनक प्रभाव यह हुआ कि अधिकाधिक प्रारम्भिक स्कूल खुलने लगे—यहाँ तक कि १८९७ ई० में इनकी संख्या बढ़ कर ६,०२५ हो गयी। इनके साथ ही साथ बोर्ड के स्कूलों में भी वृद्धि हुई और प्राइवेट स्कूल भी सरकारी इमदाद के नियमों का पालन करने लगे। एक इलाहाबाद जिले में ही प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले लड़कों की संख्या में ५० प्रतिशत वृद्धि हो गयी। सन् १८९६ ९७ ई० की शिक्षा सम्बन्धी रिपोर्ट में जौनपुर जिले के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की यह रिपोर्ट थी कि इस नयी पद्धति ने एक बड़ी कमी को पूरा कर दिया है। गाजीपुर डिस्ट्रिक्टबोर्ड ने भी इसी प्रकार लिखा था कि नये स्कूलों के खुल जाने से एक बड़ी आवश्यकता पूरी हो गयी है और थोड़े ही से खर्चे से विद्यार्थियों की संख्या प्रायः दुगुनी हो गयी है।

इसके बाद १८९८ ई० में सरकार ने इसी नीति के अनुसार ५,४०० रुपये की इमदाद और बढ़ा दी, लेकिन सन् १९०२ तक शिक्षा विभाग के अफसरों को इस बात का विश्वास हो गया था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इन नये इमदादी स्कूलों को बिना कुछ अधिक समझे-बूझे ही खोल देने में अधिक तत्परता दिखाते थे।

जिन स्कूलों का हम यहाँ पर वर्णन कर रहे हैं वे देसी पाठशालाओं से बिलकुल भिन्न थे, क्योंकि ये पाठशालाएँ तो बोर्ड के स्कूलों की प्रतिस्पर्द्धा में या तो बिलकुल नष्ट हो चुकी थीं, या अपनी कालापवर्तिता के कारण सरकारी इमदाद प्राप्त करने से वञ्चित थीं। ये नये इमदादी मदरसे एक प्रकार से बोर्ड के उन घटिया मदरसों के प्रतिरूप थे जिनमें उनके सारे दोषों के साथ साथ न तो उनका जैसा साज सामान था, न उनकी जैसी योग्यता थी और न उनकी सी धन सम्बन्धी स्थिति ही ऐसी सन्तोषजनक थी कि जिससे उनकी मर्यादा स्थापित हो सके।

इनमें से अधिकांश तो बिलकुल निकम्मे थे। न उनमें अधिक लड़के ही पढ़ने जाते थे, न उनके पास मकान ही अच्छे थे, और न उनके अध्यापकों को ही पर्याप्त वेतन मिलता था। इन स्कूलों की आमदनी का मुख्य जरिया केवल ३,४ रुपया मासिक सरकारी इमदाद थी। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इन स्कूलों की उन्नति करने के लिए इन्हें अधिक इमदाद देने की आवश्यकता थी, ताकि वे अपने यहां कम से कम योग्य शिक्षक तो रख सकें।